दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९५ तंत्री-जगजीवन बाउचंद दोशी, सावरकुंडला वर्ष २४ अंक नं० ८

स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव

तत्त्वदृष्टि से देखने पर, राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाले अन्य द्रव्य जरा भी नहीं दिखते। क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती है—ऐसा अन्तरंग में सर्वथा प्रगट-प्रकाशित है। राग-द्वेष चेतन के ही परिणाम हैं; अशुद्ध निश्चय से अशुद्ध उपादान जीव के द्वारा है, अत: अन्य द्रव्य आत्मा को राग-द्वेष उत्पन्न करा सकें, ऐसा नहीं है; क्योंकि सदा सभी द्रव्यों के उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपने स्वभाव से ही होते हैं, अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के द्वारा पर्यायों की उत्पत्ति नहीं होती। लोक-व्यवहार में कर्ता कहने का उपचार है, परमार्थ में नहीं है, 'तत्त्वार्थ निश्चयोक्ति व्यवहारों जनोदितम्'—ऐसा वस्तुस्वभाव जाननेवाला ही स्वसन्मुखता द्वारा बलवान-धीर-वीर और सच्चा समतावान होता है।

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

दिसम्बर १९६८ वार्षिक मूल्य ३) रुपये (२८४) एक अंक २५ पैसा [मार्गशीर्ष सं० २४९५

श्रीमद् राजचन्द्र वचनामृत

❀ जो कोई अपनी संसार-देह-वैभव संबंधी वृद्धि चाहता है, उसकी उतनी ही अधोगति होती है।

❀ जिसे (भेदविज्ञानसहित) संतोष आया हो, कषायें मंद पड़ गई हों, वही सच्चा जैन और श्रावक है।

❀ जगत में दिखावे के लिये मुमुक्षुजन कुछ भी आचरण न करे, परंतु जो आत्महित के लिये सुंदर हो, उसका ही आचरण करे।

❀ धर्मध्यान लक्षपूर्वक हो, यही आत्महित का रास्ता है। चित्त में संकल्प-विकल्पों से रहित होना, यह महावीर का मार्ग है, अलिप्तभाव में रहना, यह विवेकी का कर्तव्य है।

❀ दृष्टि स्वच्छ करो कि जिसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म दोष भी दिखाई दे सकें, और दोष कैसे दूर हो सकते हैं, वह जानने के लिये शास्त्र रचे गये हैं। पूजन के लिये शास्त्र नहीं रचे गये हैं।

❀ जैसे बने मान-बड़ाई-तृष्णा को कम करना चाहिये, जो धन मांगे, धन की इच्छा करे, वह निर्धन है। जो न माँगे वह धन है। जिसे धन की विशेष तृष्णा है, उसे दुगुनी पीड़ा है, जरा भी सुख नहीं।

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्र० गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

दिसम्बर : १९६८ ☆ मार्गशीर्ष, वीर नि०सं० २४९५, वर्ष २४ वाँ ☆ अंक : ८

दो नयों के उपदेश का तात्पर्य

भूतार्थस्वभाव से विमुख परिणाम, सो संसार;
भूतार्थस्वभाव के सन्मुख परिणाम, सो मोक्षमार्ग।

भूतार्थरूप आत्मस्वरूप को न जाननेवाले जीवों को उसका स्वरूप समझाने के लिये आचार्य भगवान व्यवहार द्वारा उस परमार्थ का उपदेश देते हैं। वहाँ उसका आशय समझकर जो परमार्थस्वभावसन्मुख हो, वही परमार्थ को समझता है और उसी को सच्ची देशना परिणमित होती है अर्थात् मोक्षमार्ग होता है।

परंतु जो जीव व्यवहार-उपदेश को ही परमार्थ मानकर उस व्यवहार में ही अटक जाता है, वह परमार्थ-स्वरूप को नहीं समझ सकता, इसलिये देशना का जो आशय (परमार्थस्वरूप सन्मुख होने का) था, उसे वह नहीं समझा; इसलिये उसके परिणाम परमार्थस्वरूप से विमुख ही रहे; और परमार्थस्वरूप से विमुख परिणाम, वह संसार ही है।

(पुरुषार्थसिद्धि-उपाय के प्रवचन से)

अकारक-अवेदक ज्ञायकस्वभावी आत्मा

[ध्याता के ध्येयरूप निज-परमात्मतत्त्व का एवं मोक्ष के कारणरूप भावों का वर्णन]

[समयसार, गाथा ३२० जयसेनस्वामी की टीका पर प्रवचन]

(सोनगढ़ : वीर सं. २४९४, कार्तिक कृष्णा १ से प्रारम्भ)

☆★☆★☆★☆★☆★☆★

इस प्रवचन में अत्यन्त प्रमोदपूर्वक स्वामीजी ने कहा कि अहो! शुद्ध परम पारिणामिक आत्मस्वभाव के आश्रय से संत मोक्षमार्ग को साधते हैं। मोक्षमार्ग के साधनेवाले संत तो सिद्ध के साधर्मी होकर विराजमान हैं। संसार भावों से दूर-दूर और अंतरंग में सिद्धों के साधर्मी होकर वे मोक्षमार्ग की साधना कर रहे हैं।

अहो, भगवान की कही हुई स्याद्वाद की सुगंध विचित्र है। भगवान का अनेकांत मार्ग अलौकिक है। जीव के पाँच भावों की ऐसी बात सर्वज्ञ भगवान के अतिरिक्त दूसरों के शासन में नहीं हो सकती।

☆★☆★☆★☆★☆★☆★

यहाँ आत्मा पर का और रागादि का अकर्ता-अभोक्ता है—यह बात समझाते हैं। ज्ञानस्वभावी आत्मा ऐसा है कि स्वयं के ज्ञानभाव से भिन्न अन्य भावों का वह कर्ता-भोक्ता नहीं है। आनंदमूर्ति आत्मा, वह ज्ञानभाव मात्र है, वह शरीर-मन-वाणी-कर्म इत्यादि जड़ को तो करता नहीं, कर्म की बंध-मोक्षरूप अवस्था का कर्ता भी आत्मा नहीं; आत्मा तो ज्ञाताभाव मात्र है, उन पदार्थों को करता नहीं है, वेदता नहीं है। व्यवहार संबंधी रागादि-विकल्पों को भी वह ज्ञान करता नहीं और भोगता नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभावी आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव में लेना, वह धर्म है।

जिसप्रकार नेत्र अग्नि को देखता है किंतु करता नहीं; और अग्नि को वह भोगता भी नहीं। उसीप्रकार ज्ञान भी नेत्र के अनुसार कर्म को या रागादि को जानता ही है, परंतु उसको करता या भोगता नहीं है। ज्ञान में विकार का या जड़ का वेदन नहीं है। जैसे संधूकण करनेवाला अग्नि का कर्ता है, और अग्नि से तप्त लोहे का गोला अग्नि की उष्णता को वेदता है, परंतु

उसको देखनेवाली दृष्टि (आँख) कहीं भी अग्नि को करती या भोगती नहीं, नेत्र आदि अग्नि का सेवन करे तो वह जल जाये। उसीप्रकार शुद्धज्ञान भी रागादि भावों का या कर्म की बंध-मुक्त अवस्था का कर्ता या भोक्ता नहीं, इसलिए वह अकर्ता और अभोक्ता है। शुद्धज्ञान, अथवा शुद्धज्ञानपर्यायरूप से परिणमन करनेवाला धर्मी जीव—वह विकार का या पर का कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं; वह तन्मय होकर उसरूप से परिणमन करता नहीं, परंतु दृष्टि की तरह ज्ञाता ही रहता है। ऐसा ज्ञातास्वभावरूप परिणमन करना, वह धर्म है। अशुद्ध ऐसे रागादि व्यवहारभाव, उन्हें शुद्धजीव शुद्धउपादानरूप से नहीं करता, तन्मय नहीं होता, इसलिये उसका कर्ता या भोक्ता नहीं होता। इसप्रकार अकर्ता-अभोक्ता को समझने से आत्मा में धर्म होता है। ऐसे ज्ञातादृष्टास्वभाव के सन्मुख होकर रागादि के अकर्ता-अभोक्तारूप से परिणमन करना, वह वीतरागदेव का कहा हुआ मोक्षमार्ग है।

ऐसा मार्ग वीतराग का कहा श्री भगवान,
समवसरण के मध्य में सीमंधर भगवान।

अहो, ज्ञातादृष्टास्वभावरूपी आँख, उसमें राग के कर्तृत्वरूपी कण का समावेश नहीं हो सकता। शुभ-अशुभराग, वह तो आग के समान है, उसे ज्ञानचक्षु क्यों करे? और उसे क्यों भोगवे? उससे भिन्नरूप रहकर उसे मात्र जानता है। देखो, शांत शीतल अकषायरूप ज्ञातादृष्टा आत्मा, वह कषाय अग्नि को सुलगाता नहीं, या कषायअग्नि में जलता नहीं, इसप्रकार वह कषायों का अकर्ता-भोक्ता ही है। आत्मा का स्वभाव त्रिकाल तो ऐसा ही है और उसका अनुभव होने पर जो शुद्धज्ञानपर्याय प्रगट होकर आत्मा के साथ अभेद हो गई, उस पर्याय में भी रागादि का कर्ता-भोक्तापना नहीं; राग की शुभवृत्ति हो, उसका कर्ता-भोक्तापना ज्ञानी के ज्ञान में नहीं; क्योंकि उस शुभवृत्ति के साथ उसका ज्ञान तन्मय नहीं होता परंतु भिन्न ही परिणमन करता है। अरे, राग तो ज्ञान से विरुद्ध भाव है, उसके द्वारा मोक्षमार्ग होना मानना, वह तो दुश्मन द्वारा लाभ मानने जैसा है। भाई, राग में ज्ञान कभी तन्मय होता नहीं, तो वह राग ज्ञान का साधन कैसे हो? अहो, अपूर्व मार्ग है, उसमें राग की अपेक्षा ही कहाँ है? केवल अंतरस्वभाव का मार्ग—अन्य सबसे निरपेक्ष हैं।

भाई, ऐसे काल में ऐसे सत्यस्वरूप को तू समझ! अपना सत्स्वरूप तो ज्ञानमय है, राग में कुछ भी सत्पना नहीं है। राग से लाभ मानने जायेगा तो अपने सत् में आप धोखा खा

जायेगा। अपने सत् में रागादि का कर्ता-भोक्तापना नहीं परंतु ज्ञातापना है; ज्ञातापना—ज्ञानभाव में अपनी सत्ता है। अनंत गुणों से अभेद अपना आत्मा, वह जहाँ गुणभेद के विकल्प द्वारा अनुभव में नहीं आता, वहाँ रागादि का कर्ता-भोक्तापना उसमें कैसे ? बर्फ की ठंडी पाट जैसी जो शीतल चैतन्य-शिला, उसमें रागादि विकल्परूपी अग्नि कैसे निकलेगी ? जो जिसमें तन्मय हो, उसे ही वह कर सकता या भोग सकता है, परंतु जो जिससे भिन्न हो, उसे वह कर या भोग नहीं सकता। ज्ञान के अतिरिक्त अन्यभाव को करे या भोगे, वह सच्चा आत्मा नहीं है। द्रव्य के स्वभाव में राग-द्वेषादि नहीं, इसलिये उस स्वभाव को देखनेवाली ज्ञानदृष्टि में भी राग-द्वेष का कर्ता-भोक्तापना नहीं है। राग-द्वेष की उत्पत्ति ज्ञान में से नहीं होती। राग और ज्ञान त्रिकाल भिन्न हैं।—ऐसा अपूर्व भेदज्ञान, वह जन्म-मरण के अंत का उपाय है।

अथवा जयसेनाचार्य की टीका में ऐसा पाठांतर है कि 'दिट्ठी खयं पि णाणं' अर्थात् जिसप्रकार शुद्धदृष्टि अकर्ता और अभोक्ता है, उसीप्रकार क्षायिकज्ञान भी कर्म के बंध-मोक्ष इत्यादि का अकर्ता और अभोक्ता है। चौथे गुणस्थान की दृष्टि से लेकर अंत के क्षायिकज्ञान तक अकर्ता-अभोक्तापना है। केवलज्ञान होने पर पुण्य का या वाणी इत्यादि का कर्ता-भोक्तापना हो जाये—ऐसा नहीं। यह पुण्यफल और यह वाणी, समवसरण इत्यादि समस्त ज्ञान से भिन्न है, ज्ञान किसी को करता ही नहीं और भोगता ही नहीं, मात्र ज्ञाता है। इसीप्रकार साधक का ज्ञान भी मात्र ज्ञाता ही है, उससमय परिणमन करनेवाले रागादि को वह ज्ञान न करता है, न भोगता है।

अहो, ज्ञानस्वभाव आत्मा, उसको भगवान ने प्रसिद्ध किया है। तीर्थंकर भगवान को पहले साधकदशा में मुनिपना था, तब तो मौनरूप से वन-जंगल में और आत्मा के ध्यान में ही रहते थे, और अब केवलज्ञान हुआ, क्षायिकज्ञान हुआ, तब तो पुण्यफल के ठाठ जैसे समवसरण के मध्य में विराजते हैं और दिव्यध्वनि करते हैं।—इसप्रकार पर का कर्तृत्व माननेवालों ने भगवान को पहिचाना ही नहीं। अरे भाई, भगवान का आत्मा ज्ञानमात्र भाव में तन्मयरूप से परिणमता है; यह वाणी, यह समवसरण, यह बारह सभाएँ इत्यादि पुण्य के ठाठ कुछ भगवान के ज्ञान का कार्य नहीं, उसमें कहीं भी भगवान के ज्ञान ने प्रवेश नहीं किया है। भगवान ने वाणी की, ऐसा शास्त्रों में उपचार से ही कहने में आता है। परमार्थ से ज्ञान में वाणी इत्यादि का कर्ता-भोक्तापना नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा की पहिचान करना, वह धर्म है।

ज्ञानस्वभावी आत्मा पर का अकर्ता और अभोक्ता है, उसको भूलकर पर के कर्तृत्व की

और भोक्तृत्व की मिथ्याबुद्धि से जीव संसार में दुःखी हो रहा है; यहाँ आचार्यदेव ने उसे आत्मा का पर से भिन्न अकर्ता-अभोक्ता ज्ञानमात्र स्वभाव बतलाया है।

भाई! तू तो ज्ञानस्वरूप है! तेरा चैतन्यनेत्र जगत का साक्षी है, परंतु अपने से बाह्य ऐसे रागादि को या जड़ की क्रिया को करनेवाला तू नहीं है। शुद्धज्ञान में पर के कर्ता-भोक्तापने का समावेश नहीं होता, ज्ञान में रागादि का कर्तापना मानना, वह तो नेत्र द्वारा पत्थर उठाने जैसा है। आत्मा ज्ञानभाव की मूर्ति है, उस ज्ञानरूप परिणमित ज्ञानी रागादि के कर्ता-भोक्तारूप से परिणमन नहीं करता। ज्ञान के परिणमन में राग का परिणमन नहीं है। शुद्ध परिणति में अशुद्ध परिणति का कर्तृत्व कैसे हो? शुद्ध परिणतिरूप से परिणमन करनेवाला जीव भी रागादि अशुद्धता का कर्ता-भोक्ता नहीं है। उसका उपादान शुद्धरूप परिणमन कर रहा है। शुद्ध उपादानरूप परिणमन करनेवाला वह जीव शुद्धभाव का ही कर्ता-भोक्ता है, वह अशुद्धता का कर्ता-भोक्ता नहीं है। ऐसी शुद्धतारूप से परिणमन करनेवाला आत्मा, वह शुद्ध आत्मा है।

अरे जीव! तेरी चैतन्यजाति कैसी है? तेरी चैतन्य आँख कैसी है? उसकी यह बात है। जगत का प्रकाशक परंतु जगत से भिन्न ऐसा ज्ञाननेत्र, वह तेरा स्वरूप है; उसकी श्रद्धा और अनुभव करनेयोग्य है। ज्ञान को परभाव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व सौंपना, वह तो भार है; कोई आँख से रेती उठवाना चाहे तो वह आँख को नष्ट करने जैसा है; वैसे ही जड़ का और पुण्य-पाप का कार्य ज्ञान द्वारा करवाना चाहते हैं, उन्हें ज्ञान की श्रद्धा ही नहीं है। धर्मी तो अपने को विकाररहित ज्ञानमात्रभावरूप अनुभव करता है। शुद्ध दृष्टि की भाँति शुद्ध ज्ञान (क्षायिकज्ञान) भी रागादि का अकर्ता-अभोक्ता है। क्षायिकज्ञान कहने से तेरहवें गुणस्थान की ही बात नहीं समझना चाहिये। चौथे गुणस्थान से भी जो शुद्ध ज्ञानपरिणमन हुआ है, वह भी क्षायिकज्ञान की भाँति ही रागादि का अकर्ता और अभोक्ता है। ज्ञान का स्वभाव ही रागादि का अकर्ता-अभोक्ता है। अहो! मिथ्यात्व छूटने पर जीव सिद्ध-सदृश है। जिसप्रकार केवलज्ञान होने पर रागादि का कर्ता-भोक्तापना किंचितमात्र भी रहता नहीं; उसीप्रकार यहाँ भी ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है—ऐसा धर्मी जीव जानता है।

अहो, जैसे केवलज्ञान में राग का या पर का कर्ता-भोक्तापना नहीं, उसीप्रकार ज्ञान के अंशमात्र में भी पर का या राग का कर्ता-भोक्तापना नहीं है। आत्मा ऐसे ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण-भरा हुआ है। ज्ञान में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो पर का कर दे। केवलज्ञान होने पर ज्ञान की शक्ति बहुत बढ़ गई, इसलिये ज्ञान पर में कुछ करे—ऐसा नहीं होता। भाई, अपना ज्ञान तो

अपने आनंद को भोगनेवाला है, इसके अतिरिक्त पर का तो वह कर्ता-भोक्ता है ही नहीं। ज्ञान की अनंत शक्ति प्रगट हुई परंतु वह शक्ति क्या करती है ?—वह अपने संपूर्ण आनंद का वेदन करती है, परंतु पर में कुछ नहीं करती। भाई! अनंत वीर्य सहित ऐसा जो क्षायिकज्ञान, उस में भी पर का कर्ता-भोक्ता होने की शक्ति नहीं तो अपने में यह बात कहाँ से लाया ? तुझको क्षायिकज्ञान की प्रतीति नहीं अर्थात् अपने ज्ञानस्वभाव की तुझे प्रतीति नहीं है।

ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके जिसने शुद्धज्ञानपरिणतिरूप परिणमन किया है, वह जीव क्या करता है ?—कि बंध-मोक्ष का तथा उदय-निर्जरा का ज्ञाता ही है। कर्म की बंध-मोक्ष या उदय-निर्जरारूप अवस्था को ज्ञान जानता ही है। जैसे-साता इत्यादि के परमाणु आयें या जायें, उनको केवलज्ञान मात्र जानता ही है, उसीप्रकार सर्वज्ञस्वभाव की दृष्टिवाला धर्मी जीव भी कर्म का, बन्ध-मोक्ष का या उदय-निर्जरा का ज्ञाता ही है। रागादि का भी वह ज्ञाता ही है, परंतु उसका ज्ञान उस अशुद्धता के साथ तन्मय नहीं हो जाता, भिन्न ही रहता है। ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनंद का उपभोग है, परंतु राग का या पर का उपभोग ज्ञान में नहीं है।

त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में तो पर का कर्ता-भोक्तापना नहीं है और उस स्वभाव की दृष्टिरूप जो निर्मल परिणति हुई, उसमें भी पर का कर्ता-भोक्तापना नहीं है। मैंने राग करके पुण्यकर्म बाँधा और उस पुण्य के फल को मैं भोगता हूँ, ऐसा धर्मी नहीं मानता; मैं तो ज्ञान ही हूँ, और ज्ञान के फलरूप अतीन्द्रियरूप आनंद को भोगता हूँ, —इसप्रकार धर्मी स्वयं के ज्ञान-आनंदरूप का ही अनुभव करता है।

कदाचित् अशुभकर्म का उदय आ जाये (—जिसप्रकार श्रेणिक को नरक में पापकर्म का उदय है—) तो वहाँ भी धर्मी जीव उस अशुभकर्म के फलरूप स्वयं को नहीं अनुभवता, वह तो उससे भिन्न ज्ञानरूप ही स्वयं को अनुभवता है, अपने आत्मिक आनंद का ही अनुभव करता है। जो शुभाशुभ है, उसके वेदन को अपने ज्ञान से भिन्न जानता है। जैसे सूर्य जगत के अनेक शुभाशुभ पदार्थों को राग-द्वेष के बिना प्रकाशित करता है, परंतु उनका कर्ता या भोक्ता नहीं होता, ऐसा ही उसका प्रकाशक स्वभाव है; उसीप्रकार ज्ञान-सूर्य-आत्मा भी अपनी चैतन्य-किरणों द्वारा शुभाशुभ कर्म के उदय को या निर्जरा को, बंध को या मोक्ष को जानता ही है, परंतु उनका कर्ता-भोक्ता होने का उसका स्वभाव नहीं है। ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है। ज्ञान का ज्ञानपना स्वयं से ही है। कर्म की जो अवस्था हो, उसे वह जानता है। ऐसा ज्ञानस्वभावी आत्मा है—उसे जानकर उस ज्ञानस्वभाव की भावना करनी चाहिये—ऐसा उपदेश है।

प्रत्यक्ष स्वानुभव की विधि

समयसार गाथा ७३ के प्रारंभ में सूचनिका में शिष्य के प्रश्न का वर्णन करते हुए स्वामीजी ने कहा कि—किस रीति से यह आत्मा मिथ्यात्वादि आस्रवों से छूटता है ? मेरा आत्मा अज्ञान के कारण आस्रवों में अटक रहा है, वही दु:ख है; उससे आत्मा को कैसे छुड़ाया जाये ?—ऐसी अंतर की जिज्ञासासहित शिष्य ने छूटने का-स्वाधीन होने का उपाय पूछा है। ऐसे शिष्य को आचार्यदेव उसका उपाय बतलाते हैं—

हूँ एक, शुद्ध, ममत्वहीन मैं, ज्ञान-दर्शनपूर्ण हूँ;
उसमें रहूँ स्थित, लीन उसमें, शीघ्र यह सब क्षय करूँ ॥७३ ॥

—इसप्रकार स्वानुभव द्वारा ज्ञानी आस्रवों का क्षय करते हैं—ऐसा बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि तुझे भी आस्रवों का क्षय करना है, तो उसकी यह विधि है। ऐसे स्वसंवेदनप्रत्यक्ष आत्मा को निर्णय में ग्रहण करके उसका अनुभव करते ही आत्मा इन सर्व आस्रवों को तुरंत ही छोड़ देता है।

पूर्व अज्ञानदशा में रागादि आस्रवों को पकड़ रखता था, अब रुचि-दृष्टि बदलकर भगवान आत्मा ज्ञानसमुद्र में ऐसा मग्न हुआ कि आस्रवों का ग्रहण छूट ही गया; इसका नाम भेदज्ञान और इसका नाम धर्म है।

प्रत्यक्ष अनुभव के लिये व्यवहार कौन सा ?—कि प्रथम तो स्वाश्रित ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करना। इसप्रकार प्रथम निर्णय में ही यदि भूल हो तो आत्मा का सच्चा अनुभव नहीं होता। राग को साधन बनाकर अनुभव करना चाहे तो नहीं हो सकता। आत्मा के प्रत्यक्ष अनुभव में बीच में अन्य कोई साधन है ही नहीं। आत्मस्वभाव को रागादि के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। अहो, ऐसे आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करना और उसके पूर्व उसका निर्णय करना—वही कर्तव्य है। रागदशा होने पर राग में स्व-पर को जानने की शक्ति नहीं है, किन्तु राग के समय भी ज्ञानगुण स्वतन्त्र है। उस ज्ञान के द्वारा अपनी जानने की शक्ति से आत्मा निर्णय करता है, इसलिये उस निर्णय में राग का कर्तृत्व नहीं है। राग से भिन्न ऐसा यह ज्ञान ही निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय कर सकता है—ऐसा निर्णय करना, वह प्रत्यक्ष अनुभव की विधि है।

समयसार का महाप्रसाद

पूज्य स्वामीजी समयसार के प्रवचन में शुद्धात्मा के अनुभवरूप मधुर प्रसाद प्रतिदिन परोसते हैं और मुमुक्षु जीवों की रुचि को पुष्ट करके अनुभव के प्रति उल्लसित करते हैं। उसमें से थोड़ा-सा प्रसाद यहाँ दे रहे हैं; यह तो पंचपरमेष्ठी भगवंतों का प्रसाद है... पेट भर खाने के लिये तो जहाँ भोजनशाला चल रही हो, वहाँ जाना चाहिये।

❀ अपूर्व श्रवण (गाथा-४-५) ❀

अपने शुद्ध आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होना—ऐसा जिनभगवान का उपदेश है, और तद्नुसार अपने शुद्ध आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होना, वह जिनोपदेश का भावश्रवण है। ऐसा भावश्रवण जीव ने पहले कभी नहीं किया; इसलिये कहते हैं कि हे जीव! पूर्वकाल में नहीं सुनी हुई ऐसी यह बात है; इसलिये तू भी पूर्वकाल में नहीं किये ऐसे अपूर्वभाव से श्रवण करना।

पूर्व अनंत काल में जो अनुभवन किया है, उससे भिन्न प्रकार की यह बात है—इसलिये श्रवण में भी अपूर्वता लाना—तभी वाचक-वाच्य की सन्धि होगी।

❀ छट्ठी को लेख (गाथा-६) ❀

❀ साधक की पर्याय में अंशतः शुद्धता हुई है... उस शुद्धता द्वारा शुद्ध द्रव्य प्रतीत में—अनुभव में आया है।

❀ शुद्धद्रव्य को अनुभव में लेकर उसकी परद्रव्य के भावों से भिन्नरूप उपासना की, तब वह आत्मा 'शुद्ध' हुआ।

❀ द्रव्यस्वभाव से तो शुद्ध था... उस 'शुद्ध' की उपासना करके पर्याय सहित वह आत्मा शुद्ध हुआ।

❀ शुद्ध द्रव्य को प्रतीति में लेने से पर्याय में शुद्धता न हो, ऐसा नहीं हो सकता। द्रव्य-पर्याय दोनों 'शुद्ध' हुए।

❀ पर्याय स्वयं राग से पृथक् होकर शुद्ध हुई, तभी उसने जाना कि 'मैं (आत्मा) शुद्ध हूँ।' पर्याय राग में रहकर शुद्ध द्रव्य को नहीं पहिचान सकती।

❀ राग की उपासना करे, वह शुद्ध नहीं है; शुद्ध द्रव्य की उपासना करे, वही 'शुद्ध' है।

❀ द्रव्य तो शुद्ध है ही, परंतु उसकी उपासना करके शुद्ध का सेवन करे, तभी उस आत्मा को 'शुद्ध' कहा। वहाँ से 'समयसार का प्रारंभ' हुआ।

❀ 'शुद्ध द्रव्य'—ऐसा लक्ष में लेनेवाला कौन ?—कि उसकी ओर ढली हुई शुद्धपर्याय, उसी ने शुद्धरूप से अपना अनुभव किया है, ऐसा अनुभव वह मोक्षमार्ग है।

ज्ञायकभाव शुद्ध आत्मा शुभ-अशुभ भावरूप नहीं हो गया है, उससे भिन्न स्वभावरूप ही विद्यमान है; तथापि उस स्वभाव की उपासना (श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता) जो नहीं करता और मात्र अशुद्धता पुण्य-पाप भावों रूप ही अपने को अनुभवता है—वह भगवान को भूलकर भव में भटकता है। वीतरागस्वभाव को भूलकर अज्ञानी विकल्प का ही सेवन करता है, जब उससे पृथक् होकर निर्विकल्प एक विज्ञानघनस्वरूप से स्वयं अपने को अनुभवे, तब सम्यग्दर्शन होता है; तभी उसने शुद्धात्मा की उपासना की कही जाती है और तभी आत्मज्ञ संतों की उपासना एवं संगति कहलाती है।

❀ मोक्षमार्ग की रीति ❀

[निश्चय-व्यवहाररूप उपदेश का तात्पर्य क्या ? गाथा ८-९-१०]

❀ जो ज्ञानपर्याय आत्मस्वभाव का स्पर्श करे—अनुभव करे, उसे भावश्रुत कहा जाता है, वह मोक्ष का कारण है।—ऐसे भावश्रुत द्वारा मोक्ष की परिपाटी प्रारंभ होती है और संसार की परिपाटी रुक जाती है।

❀ ऐसी भावश्रुत पर्याय द्वारा धर्मी ने केवल शुद्ध आत्मा को जाना, इसलिये उसे श्रुतकेवली कहा जाता है। समस्त ज्ञान, वह आत्मा ही है, इसलिये जिसने आत्मा को जाना, उसने सर्व ज्ञान को जाना, इसलिये वह श्रुतकेवली है।

❀ आत्मा को जाननेवाला ऐसा श्रुतज्ञान वह सूक्ष्म है, अपूर्व है, वह धर्म है, और उसका फल अलौकिक-अतीन्द्रिय आनंद है।

❀ ज्ञान, वह आत्मा है। ज्ञान की एकता आत्मा के साथ है। ज्ञान, वह राग नहीं है; ज्ञान, वह अचेतन नहीं है, इसलिये 'ज्ञान' को जानने पर राग से तथा अचेतन से भिन्न ऐसा 'आत्मा' ही ज्ञात होता है। इसलिये ज्ञान को जानना कहने से परमार्थतः आत्मा को ही जानना आता है।

❀ इसप्रकार 'ज्ञान, सो आत्मा'—ऐसा कहने से गुण-गुणी भेदरूप व्यवहार बीच में आ जाता है, तथापि उसका तात्पर्य तो आत्मा बतलाना है, इसलिये उस तात्पर्य को समझकर शिष्य की पर्याय आत्मा की ओर झुकती है और परमार्थ आत्मा का अनुभव करती है। मात्र ज्ञान के भेद में वह नहीं रुकता परंतु ज्ञान को विकल्प से पार करके वह ज्ञान से अभेद आत्मा को लक्ष में ले लेता है और ऐसा परमार्थ आत्मा लक्ष में आते ही अतीन्द्रिय आनंद से भरपूर सुंदर ज्ञान तरंगें आत्मा में उल्लसित होती हैं।

❀ इसप्रकार ऐसे परमार्थ आत्मा का ज्ञान कराना, वह शास्त्र का प्रयोजन है। आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप है—ऐसा कथन वाणी में भले ही भेद से आये, परंतु उपदेशक के लक्ष में उस समय भी अभेद आत्मा है, और श्रोता भी ऐसा पात्र है कि भेद को मुख्य न करके अभेद आत्मा को लक्ष में लेकर परमार्थस्वरूप को समझ जाता है। इसप्रकार भूतार्थस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये जिनोपदेश का यह महान सिद्धांत है कि भूतार्थ ही आश्रय करनेयोग्य है और व्यवहार आश्रय करनेयोग्य नहीं है—यह मोक्षमार्ग की रीति है।

अपार सुख से भरा हुआ आत्मवैभव

['सुखशक्ति' पर पूज्य कानजीस्वामी का प्रवचन]

सुखशक्ति की प्रतीति करने पर उसका फल अपनी पर्याय में आता है, स्वानुभूति में जो अतीन्द्रिय सुख का वेदन हुआ, उससे धर्मी जीव जानता है कि मेरा संपूर्ण आत्मा ऐसे परिपूर्ण सुखस्वभाव से भरा हुआ है... अहो ! ऐसा सुखस्वभाव का श्रवण, विचार, मनन करके उसी की महिमा लाकर अंतरोन्मुख हो तो वहाँ जगत की कोई चिन्ता या आकुलता कहाँ है ? सर्वज्ञदशा के महा आनंद की तो बात ही क्या ! साधक का आनंद भी अपूर्व अतीन्द्रिय है।—ऐसा आत्मवैभव प्रत्येक आत्मा में भरा हुआ है, उसे प्रगट करने का उपाय सम्यग्दर्शन है।

अनेकांतस्वरूप आत्मा में सुख नाम की एक शक्ति है, वह आत्मा का लक्षण है। आकुलता, वह दु:ख है और उसके अभावरूप निराकुल शांति, वह सुख है। अनाकुलता से परिपूर्ण भगवान आत्मा के सर्व प्रदेशों में सुख भरा हुआ है। ऐसे निजसुख को पर में ढूँढ़ने से तो आकुलता-दु:ख एवं संसारपरिभ्रमण होता है। हे जीव ! सुख अंतर में है, वह बाहर ढूँढ़ने से नहीं मिल सकता। बाह्य में तो सुख नहीं है और विकल्प में भी नहीं है। विकल्प में-राग में सुख या सुख का साधन माननेवाले जीव परमार्थ से बाह्य विषयों में ही सुख मानते हैं, अपने सुखस्वभाव को वे नहीं जानते।

भाई, सुख तो तेरा स्वभाव है; तू स्वयं सुखस्वभाव से भरा हुआ है, तो अपने सुख को बाह्य विषयों की या विकल्पों की अपेक्षा कैसी है ? अपने अपरिमित सुखस्वभाव को भूलकर अज्ञानी जीव भ्रांति से अनंत परद्रव्यों में (भोजन, स्त्री, धन, अधिकारादि पुण्य में) सुख मानते हैं, किंतु सुख तो अपने में ही है और उस सुख का साधन भी अपने में है। अपनी सुखशक्ति ही अपने सुख का साधन है, बाह्य में कोई साधन नहीं है। अपने सुख के लिये बाह्य सामग्री को

ढूँढ़ना, वह तो व्यग्रता है, पराधीनता है, दुःख है।

सुख आत्मा का गुण है, किंतु दुःख कहीं आत्मा का गुण नहीं है। यदि दुःख मूलस्वभाव में हो तो उसका नाश नहीं हो सकता, और सुख मूलस्वभाव में न हो तो वह प्राप्त नहीं हो सकता। इसप्रकार अपने सुखस्वभाव को जानकर उस नित्य सुखस्वरूप के सन्मुख होकर परिणमन करने से सुख प्रगट हुआ, उसमें दुःख का अभाव है। इसप्रकार दुःख के अभावरूप सुखदशा प्रगट करे, तब आत्मा के सुखस्वभाव को जाना कहा जाता है। स्वानुभूति में जिस सुख का वेदन हुआ, उससे धर्मात्मा जीव जानता है कि मेरा संपूर्ण आत्मा ऐसा ही पूर्ण सुखस्वभाव से भरा हुआ है।—इसप्रकार पर्याय में प्रसिद्धि सहित सुखशक्तिवान की प्रतीति सच्ची होती है। अनंत शक्तिमय स्वरूप के लक्षसहित जो एक शक्ति की प्रतीति करता है, उसे उसका फल पर्याय में आये बिना नहीं रहता।

सच्चा ज्ञान हो, वहाँ सुख भी होता ही है; फिर भी दोनों का लक्षण भिन्न है। ज्ञान का लक्षण स्व-पर को जानना, सुख का लक्षण अनाकुलता। आत्मा में दृष्टि करने पर ज्ञान-सुख आदि गुण व्यक्तरूप से पर्याय में व्याप्त हों अर्थात् निर्मल पर्यायरूप परिणमित हों, तब अनंत शक्तिवान आत्मा को जाना-माना-अनुभवरूप किया, ऐसा कहा जाता है। जो शक्ति हो, उसका कुछ भी कार्य होना ही चाहिए न? जैसे कि ज्ञान का कार्य क्या? तो कहते हैं जानना; उसीप्रकार सुखशक्ति का कार्य क्या? तो कहते हैं कि अनाकुलता का अनुभव करना, वह सुखशक्ति का कार्य है। सुखगुण के कार्य में दुःख नहीं होता। सुख से परिपूर्ण अंतरस्वभाव में दृष्टि करने से सुख प्रगट होता है, दुःख प्रगट नहीं होता। अहा, ऐसे सुखस्वभाव की प्रतीति करने पर ही उसमें से निराकुल अचिंत्य आनंद की कणिका प्रगट होती है, जिसका स्वाद सिद्ध भगवान के सुख जैसा ही है।—ऐसा सुखशक्ति का कार्य है।

ऐसा सुख प्रगट करने के लिये छह कारक अपने सुखगुण में ही समा जाते हैं। ध्रुव में आनंद भरा है, उसमें लक्ष करने से वह पर्याय में प्रगट होता है। ध्रुव का अवलंबन, वही साधन है; बाह्य में अन्य कोई साधन नहीं। भाई! अंतरंग में दृष्टि करके आनंद को शोध; बाह्य में कहीं न ढूँढ़।

प्रश्न—बाह्य में तो बंगला-मोटर-रेडिया-सिनेता इत्यादि अनेक प्रकार के सुख के साधन देखने में आते हैं न?

उत्तर— भाई, सुख की गंध भी उनमें नहीं है। उस ओर का झुकाव, वह तो पाप और दुःख है। सुख का सागर आत्मा में भरा हुआ है, उसे बाह्य के किसी साधन की आवश्यकता नहीं; इसलिये आकुलता का उसमें अभाव है। सुख तो उसे कहते हैं कि जिसमें अंशमात्र भी आकुलता नहीं होती।

आत्मा का सुखगुण श्रद्धा-ज्ञान इत्यादि सर्व गुणों में व्यापक है, इसलिये श्रद्धान-ज्ञान इत्यादि के सम्यक्परिणमन के साथ सुख भी सम्मिलित ही है। श्रद्धा-ज्ञान सच्चे हों और सुख का अनुभव न हो, ऐसा नहीं हो सकता। सुख के अनुभव में अनंत गुणों का रस मिश्रित है; अनंत गुण का अनंत सुख है।

अहो, ऐसे सुखस्वभाव को जानकर उसका विचार-मनन करे और उसकी महिमा लाकर अंतरंग में उतरे, तो वहाँ जगत की कोई चिंता या आकुलता कहाँ है ? सुख में अन्य चिंता कैसी ? परद्रव्य कभी आत्मा में नहीं आते और आत्मा अपने गुणों से बाहर पर में नहीं जाता। ऐसे आत्मा के चिंतन से परम आनंद प्रगट होता है। छद्मस्थदशा में ज्ञानी को जो आनंद है, वह भी अनंत गुणों के रस से भरा हुआ अनंत आनंद है; तो सर्वज्ञ के महा आनंद की क्या बात ? परंतु अपने ऐसे आनंद-स्वभाव को भूलकर पर की चिंता में जीव लगा हुआ है, इससे दुःखी है। स्वभाव में देखे तो अकेला सुख, सुख और सुख ही भरा हुआ है।

आत्मा में जो सुख भरा है, उसे प्रगट करने का मार्ग सम्यग्दर्शन है। सुख का मार्ग शुभराग में नहीं, सुख का मार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। जो राग में या पुण्य में सुख का मार्ग मानते हैं, उन्होंने आत्मा के सुखस्वभाव को जाना ही नहीं। पुण्य के फलरूप जो सुख है, वह इन्द्रियजनित सुख है, वह कहीं सच्चा सुख नहीं, परंतु वह तो दुःख ही है।—ऐसा प्रवचनसार में सिद्ध किया है। राग तो स्वयं आकुलता है, उसके द्वारा तीन काल में सुख नहीं होता। सुखशक्ति के परिणमन में राग का या आकुलता का अभाव है। अर्थात् औदयिकभाव का अभाव है। सुखशक्ति पारिणामिकभाव से त्रिकाल है; उसका परिणमन क्षायिकादि भावरूप है, आकुलतारूप औदयिकभाव का उसमें अभाव है, वह वास्तव में सुखगुण का कार्य नहीं। सुख-शक्ति का कार्य तो सुखरूप होता है, दुःखरूप नहीं होता। औदयिकभाव में सुख नहीं और औदयिकभाव के फलरूप बाह्य संयोग, उनमें भी सुख नहीं। अरे, जड़ में तेरा सुख हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता। जिसमें स्वयं में सुखगुण नहीं, वह तुझे सुख कहाँ से देगा ?

आत्मा में ही आत्मा का आनंद है, परंतु मुझमें मेरा आनंद है—ऐसा तुझे स्वयं का विश्वास नहीं, इसलिये बाह्य में आनंद लेने के लिये व्यर्थ ही कोलाहल करता है। जैसे-मृगजल (मृगमरीचिका) से प्यास कभी नहीं बुझती क्योंकि वहाँ पानी ही नहीं; उसीप्रकार विषयों की ओर झुकाव से कभी आकुलता नहीं मिटती, क्योंकि वहाँ सुख ही नहीं है। भाई, सुख का सागर तो अपने में ही परिपूर्ण भरा है, उसमें डुबकी लगाये तो तुझे तृप्ति का अनुभव हो और आकुलता मिट जाये। सुख अर्थात् मोक्षमार्ग, वह शुभराग द्वारा नहीं होता। अरे, सुख तो स्वाश्रित भाव में होता है या पराश्रित भाव में ? 'पराधीन सपनेह सुख नाहीं....' स्वाधीनता अर्थात् आत्मस्वभाव का आश्रय, वही सुख है। उस सुख में अन्य किसी की आवश्यकता नहीं पड़ती।

प्रभु! तुझे ऐसा सुअवसर मिला है तो अंतरप्रयत्नपूर्वक आत्मा को समझ, नहीं तो यह अवसर चला जायेगा। मनुष्यभव का समय तो बहुत अल्प है। देखो, चार दिन पहले तो एक भाई यहाँ सभा में व्याख्यान सुनने आये थे और आज ही उनका हृदय बंद हो जाने से बंबई में देहांत हो गया।—ऐसे समाचार अभी-अभी सुनने में आये हैं।—ऐसा क्षणभंगुर जीवन है, इसलिये उसमें अन्य सबको गौण करके आत्मा के हित का साधन कर लेने जैसा है। आत्मा के हित में किसी भी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं है।

सुख आदि गुण तो आत्मा में त्रिकाल हैं, उन्हें कुछ नये नहीं करना है, परंतु उन गुणों की पहिचान द्वारा पर्याय में वे प्रगट होते हैं—और उसका नाम 'आत्मप्रसिद्धि' है।

ज्ञानमात्र आत्मा में सुखशक्ति स्वाधीन है; उस सुख के साथ अन्य अनंत शक्तियाँ भी सम्मिलित ही हैं। अनंत शक्तियाँ एक ही साथ आत्मा में होने पर भी, उसमें जो सुखशक्ति है, वह अन्य शक्ति नहीं, और जो अन्य शक्तियाँ हैं, वह सुखशक्ति नहीं है।—इसप्रकार समस्त शक्तियाँ अपने भिन्न-भिन्न लक्षणों को रखकर वस्तु में रहती हैं। प्रत्येक शक्ति में उत्पाद-व्यय-ध्रुवता अन्य कारकों से निरपेक्ष है। सुख के उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों सुखरूप हैं, उन तीनों में दुःख का अभाव है। दूसरी रीति से कहें तो निश्चय के शुद्धपरिणमन में व्यवहार की अशुद्धता का अभाव है। यहाँ तो शुद्धता को ही जीव कहते हैं, अशुद्धता को परमार्थ जीव नहीं कहते।

अहा, ४७ शक्तियों का वर्णन करके तो आचार्यदेव ने आत्मा के स्वभाव को प्रसिद्ध किया है। यह ४७ शक्तियाँ तो घातिकर्मों की ४७ प्रकृतियों का घात करके केवलज्ञान प्रगट करनेवाली हैं। शक्ति के वर्णन में शक्तियाँ ४७, घातिकर्मों की प्रकृतियाँ ४७, प्रवचनसार के

परिशिष्ट में नय भी ४७ और उपादान-निमित्त के दोहे भी ४७,—इसप्रकार सब में ४७ का मेल आ जाता है। ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की अट्ठाईस और अंतराय की पाँच (५+९+२८+५=४७) इसप्रकार घातिकर्म की कुल ४७ प्रकृतियाँ हैं।

यहाँ जो ४७ शक्तियों का वर्णन किया है, उस शक्तिवाले आत्मा की प्रतीति करने पर ४७ घातिप्रकृतियों का घात हो जाता है, और भगवान आत्मा अपनी अनंत शक्तियों की निर्मल पर्यायों सहित प्रसिद्ध होता है।

भाई, सुख का कारण तो ज्ञान है। सुख आत्मा में है, उसका ज्ञान करने से वह सुख प्रगट होता है। 'ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारन'।

सम्यग्ज्ञान से आत्मा को जानने पर ही सुख होता है। यहाँ इस शक्ति के अलौकिक वर्णन में ज्ञानी का अभिप्राय क्या है, वह जान ले तो आत्मा का अनुभव हुए बिना न रहे। अपने अन्तरंग को पहिचाने तो ज्ञानी का सच्चा आशय समझ में आये; समझने पर वहाँ सुख ही होता है।

जैसे आत्मद्रव्य पर की अपेक्षा नहीं रखता, उसीप्रकार उसकी सुखशक्ति पर की अपेक्षा नहीं रखती और उसकी सुखपर्याय भी पर की अपेक्षा नहीं रखती, इसप्रकार समस्त शक्तियों में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों का पर से निरपेक्षपना समझना। ऐसी अनंत शक्तियों के वैभव से भरा हुआ आत्मा स्वयं है, तथापि अपना मूल्य अज्ञानी नहीं जानता और लाखों या करोड़ों रुपये इकट्ठे हो जायें तो मानता है कि अहा, मैं दुनिया में कितना बड़ा हो गया! इसप्रकार रुपये-पैसे से अपना मूल्यांकन करता है। परंतु भाई, उसमें तेरा मूल्य नहीं है; इससे तो अनंतगुना उत्तम वैभव स्वर्ग में इस जीव ने अनंत बार प्राप्त किया, परंतु उससे भी किंचित्मात्र सुख नहीं मिला। वर्तमान में ऐसा मनुष्यपना तथा उत्तम सत्संग प्राप्त हुआ है तो आत्मा के स्वरूप को समझ, अपनी शक्ति के शाश्वत वैभव को सम्हाल... तो तुझे सच्चा सुख प्राप्त होगा।

चैतन्य के आनंदसागर में झूलता यह भगवान आत्मा... उसके आनंद में आकुलता की छाया भी नहीं, उसका विश्वास करनेवाले सम्यग्दृष्टि को पर में किंचित् भी सुख भासित नहीं होता। चक्रवर्ती के वैभव में रहते हुए भी सम्यग्दृष्टि जानता है कि इस बाह्य वैभव में हम नहीं और हममें वह नहीं; उस वैभव में हमारा सुख नहीं। जिसमें हमारा अस्तित्व नहीं, उसमें हमारा सुख कैसे हो? हमारा सुख तो अपने निजवैभव में ही है। स्वानुभव से अपने अंतर के सुख को

हमने देख लिया है, अपने निजवैभव को हमने समझा है। अरे, इस बाह्य वैभव में हमारा अस्तित्व नहीं... जहाँ हम हैं, वहाँ अनंत सुख भरा है, अपने अस्तित्व में आनंद के सागर की तरंगें उछलती हैं। इस राज्य के प्रति या स्त्री आदि के प्रति किंचित् लक्ष जाता है, परंतु यह सब राग की चेष्टा है। औदयिकभाव की चेष्टारूप यह राग भी वास्तव में हम नहीं, तो फिर बाह्य पदार्थ तो हमारे कहाँ से होंगे ? उनमें कहीं भी हमें अपना सुख दिखाई नहीं देता।

प्रश्न—परंतु संयोग में स्थित तो दिखाई देते हैं ? तो कहते हैं कि—भाई, तुझे उनके अंतरंग का पता नहीं; उनके अंतरंग की दशा को तू पहिचानता नहीं, उनकी दृष्टि सब ओर से हटकर एक आत्मा में ही लगी है। दृष्टि जहाँ लगी है, वहाँ से वह नहीं हटती; और दृष्टि जहाँ से हट गई, वहाँ अब नहीं लगती।

वास्तव में तो जहाँ जिसकी दृष्टि है, वहीं वह खड़ा है। ज्ञानी संयोग में खड़े हैं या स्वभाव में ? उसका पता अज्ञानी को नहीं होता। ज्ञानी को संयोग की रुचि छूट गई है और निज स्वभाव की रुचि हो गई है, इसलिए वास्तव में वे संयोग में नहीं खड़े हैं, राग में भी नहीं खड़े हैं, अपने स्वभाव में ही खड़े हैं। जो रागपरिणमन है, वह कहीं 'ज्ञानी' नहीं है, उसके द्वारा 'ज्ञानी' की पहिचान नहीं होती; रागरहित निर्मल परिणति में परिणमनेवाला आत्मा ही 'ज्ञानी' है, उस परिणति द्वारा ही 'ज्ञानी' की पहिचान होती है। ज्ञानी की ऐसी सच्ची पहिचान जीव को दुर्लभ है। ज्ञानी की दर्शनशुद्धि में आत्मा के आनंद का ही आदर है, इसलिये उसे आनंद का वेदन ही मुख्य है; संयोग का तथा राग का आदर नहीं है, इसलिये दृष्टि में उसके वेदन का अभाव है।

अहो, संयोग और राग के बीच दिखने पर भी ज्ञानी की दृष्टि कुछ और ही कार्य करती है। उसका वर्णन करते हुए कवि श्री दौलतरामजी कहते हैं कि—

चिन्मूरत दृग्धारी की मोहे रीति लगत है अटापटी।
बाहिर नारकीकृत दुःख भोगे अंतर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि संग पै तिस परिणति तैं नित हटाहटी।
ज्ञान-विराग शक्ति तैं विधिफल भोगत पै विधि घटाघटी।
सदन निवासी तदपि उदासी तातैं आस्रव छटाछटी।

नरक के संयोग का या स्वर्ग के संयोग का, या उस ओर के दुःख-सुख के भाव का सम्यग्दृष्टि तन्मयरूप से अनुभव नहीं करता, वह तो अपनी सुखशक्ति के निर्मल परिणमनरूप

आनंद को ही तन्मयरूप से अनुभवता है। प्रतिकूल संयोगों का या दु:ख का उसमें अभाव है। ऐसे संयोग के समय भी अन्तरंग में तो वह अतीन्द्रिय सुखरस का पान करता है। ऐसा ही सुखस्वभाव प्रत्येक आत्मा में है। ज्ञानपरिणति के साथ ही वह सुख परिणमन करता है।

असंख्यप्रदेशी द्रव्य, ज्ञानादि अनंत गुण और उनका निर्मल परिणमन—यह तीनों मिलकर अखंड आत्मवस्तु है। ऐसी आत्मवस्तु को लक्ष में लेने पर प्रति समय नवीन-नवीन आनंद का परिणमन होता है और वह आनंद परिणमित होकर आत्मा के सर्व गुणों में व्याप्त होता है, इसलिये सुख की अनुभूति में अनंत गुण का रस अनुभव में आता है। जैसे 'सर्व गुणांश, सो सम्यक्त्व' कहा है; उसीप्रकार इसमें भी समझना। अनंत गुणों में व्यापक सुख अनंत गुणों के रस से परिपूर्ण अनंत ही है। *(—शेष अगले अंक में)*

धर्म की भूमिका

'निर्णय' वह धर्म की पक्की भूमिका है; किंतु वह निर्णय कैसा हो? अकेला सुनने से नहीं किंतु अंतर में आत्मा का स्पर्श-अनुभव करके हुआ हो, ऐसा अपूर्व निर्णय होना चाहिये। वह निर्णय ऐसा नि:शंका होना चाहिये कि कदाचित् शरीर का नाम भूल जाये, किंतु निजस्वरूप को न भूले। जो देह का प्रेमी मिटकर 'आत्मप्रेमी' हुआ, वह कदाचित् देह का नाम तो भूल जायेगा किंतु आत्मा को नहीं भूलेगा।

अपने ज्ञान की निर्मलता में अपना टंकोत्कीर्ण चित्र इसप्रकार उत्कीर्ण हो गया है कि जो कभी मिटेगा नहीं। बस, जिसने नित्य के आश्रय से ऐसा निर्णय किया, वह अवश्य शुद्धात्मा के अनुभव द्वारा मोक्ष को प्राप्त करेगा।

सम्यग्दर्शन का अपूर्व मंत्र

[समयसार, गाथा ११, वीर सं. २४९४, कार्तिक कृष्णा-१]

जिनशासन का सारभूत पूज्य स्वामीजी का यह महत्त्वपूर्ण प्रवचन सम्यग्दर्शन का अमोघ उपाय बतलाता है.... मुमुक्षु को शुद्धात्मा की ओर अंगुलि-निर्देश करके कोई अपूर्व भाव जागृत कराता है...

अनेक जिज्ञासु जीव प्रश्न करते हैं कि सम्यग्दर्शन की कोई सुगम रीति बतलायें! संक्षिप्त मार्ग बतलायें! शीघ्र सम्यग्दर्शन हो, ऐसा उपाय बतलायें! इन सबके लिए पूज्य स्वामीजी का यह एक प्रवचन पर्याप्त है। सम्यग्दर्शन की रीति एक ही है; एक सुगम रीति और दूसरी कठिन रीति—इसप्रकार दो रीतियाँ नहीं हैं। इसलिये सुगम लगता हो या अपूर्वता के कारण कठिन लगता हो परंतु इस गाथा में उपदेशित रीति अनुसार शुद्धनय द्वारा बोध करके, अशुद्धता से भिन्न 'सहज एक ज्ञायकभावरूप' अपना अनुभव करना, उसी के लिए उद्यम करना, यही सम्यग्दर्शन की रीति है, यही मार्ग है... इस मार्ग से चलनेवाला सम्यक्त्वनगरी में अवश्य पहुँचेगा... पूज्य स्वामीजी का यह आशीर्वाद है।

श्री समयसार की यह ११वीं गाथा तो सम्यग्दर्शन की गाथा है... जैनसिद्धांत का मूल रहस्य और निश्चय-व्यवहार का समस्त स्पष्टीकरण इस सूत्र में आचार्यभगवान ने भर दिया है।

शिष्य प्रश्न करता है कि—'व्यवहार को क्यों अंगीकार नहीं करना चाहिये?' अर्थात् जिज्ञासु शिष्य ने इतना तो लक्ष में लिया है कि व्यवहाररूप जो गुण-गुणी भेद का विकल्प आता है, वह अंगीकार करने जैसा नहीं और शुद्धात्मा एक परमार्थ से ही अनुभव में करनेयोग्य है—ऐसा आचार्यदेव कहना चाहते हैं। इस बात को लक्ष में लेकर शुद्धात्मा के अनुभव के लिए शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभो! 'ज्ञान वह मैं' ऐसा भेदरूप व्यवहार बीच में आता तो है, और वह परमार्थ का प्रतिपादक है तो उस व्यवहारनय को अंगीकार क्यों नहीं करना? तब श्रीगुरु

इस ११वीं गाथा में समझाते हैं कि—

भूतार्थरूप शुद्ध आत्मा का ही आश्रय करना सम्यग्दर्शन है, इसलिये उसका आश्रय करने जैसा है। और गुण-गुणी भेदरूप व्यवहारनय—वह अभूतार्थ है; उस अभूतार्थ के अनुभव द्वारा सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसलिये अभूतार्थ ऐसा व्यवहारनय आश्रय करनेयोग्य नहीं है—ऐसा समझना।

'ज्ञान-दर्शन-चारित्र, सो आत्मा' इत्यादि जो भेद हैं, वह व्यवहार है और उसे लक्ष में लेनेवाला ज्ञान, वह 'व्यवहारनय' है परंतु यहाँ अध्यात्म शैली में नय और नय के विषय को अभेद करके व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा; और भूतार्थस्वभाव को देखनेवाला जो शुद्धनय, उसे ही भूतार्थ कहा है। शुद्धनय स्वयं तो पर्याय है परंतु भूतार्थस्वभाव के साथ अभेद करके उस शुद्धनय को ही आत्मा कहा, और उसे ही भूतार्थ कहा। व्यवहारनय के विषयरूप भेद-विकल्प, वह अभूतार्थ है और उसे विषय करनेवाले व्यवहारनय को भी अभूतार्थ कहा है।—इसप्रकार नय और नय के विषय को अभेद करके कथन करने की अध्यात्म की विशिष्ट शैली है।

सर्वज्ञदेव और महामुनिवर संतों ने भूतार्थरूप शुद्ध आत्मा के आश्रय को ही सम्यग्दर्शन कहा है। सम्यग्दर्शन शुद्ध आत्मा को देखता है। भेद या विकल्परूप व्यवहार के आश्रय से शुद्ध आत्मा अनुभव में नहीं आता।

देखो, यह सम्यग्दर्शन की अपूर्व बात! परमपारिणामिक ज्ञायकभाव का अनुभव करनेवाला शुद्धनय भूतार्थ है... ऐसे भूतार्थ का आश्रय ही चार गति के दुःख के नाश का और सिद्धसुख की प्राप्ति का उपाय है।

शुद्धनय अर्थात् अंतर्मुख ज्ञानदशा आत्मा के एकरूप शुद्ध स्वभाव को देखती है, और उस स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें होती हैं। यहाँ पर पर्याय को 'गौण करके' अभूतार्थ-व्यवहार कहा है, परंतु कहीं उसका अभाव नहीं है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र को निर्मल दशा का कहीं आत्मा में अभाव नहीं, परंतु उस पर्याय का भेद करने पर विकल्प उठता है, और विकल्प द्वारा शुद्ध आत्मा अनुभव में नहीं आता, इसलिये कहा है कि वह व्यवहार है-अभूतार्थ है।

व्यवहारनय संपूर्ण अभूतार्थ है, अर्थात् भेद-विकल्प के जितने प्रकार हैं—सद्भूत या

असद्भूत, उपचार या अनुपचार—वे सब अभूतार्थ हैं; क्योंकि उनके द्वारा सम्यग्दर्शन नहीं होता; उस ओर झुकी हुई ज्ञानपर्यायरूप जो व्यवहारनय-वह भी अभूतार्थ है, क्योंकि वह पर्याय भी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं करती। अंतर्मुख परिणमित हुई ज्ञानपर्यायरूप शुद्धनय ही भूतार्थ है, क्योंकि वह शुद्धस्वभाव का अनुभव करती है, और उसके द्वारा ही सम्यग्दर्शन होता है। इसलिए ऐसे भूतार्थस्वभाव की दृष्टि में पर्याय को गौण करके (अभाव करके नहीं किंतु गौण करके) व्यवहार कहा; अभेद बतलाने के लिए भेद को गौण करके अभूतार्थ कहा और भूतार्थस्वभाव का लक्ष कराया—वह सम्यग्दर्शन है। इसप्रकार यह गाथा जैनशासन का प्राण है, सम्यग्दर्शन प्रगट करने का महा-मंत्र इस सूत्र में भरा है।

जीव दु:खी है... आचार्य उसे दु:ख से छूटने की यह रीति बतलाते हैं कि—जिसमें सदा आनंदस्वभाव भरा है, ऐसे अपने भूतार्थस्वभाव को देख... तो उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होने पर अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव होगा और दु:ख मिटेगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

व्यवहारनय तो मिश्रित अशुद्ध आत्मा को देखता है, अथवा अभेद में भेद उत्पन्न करके कहता है, ऐसे अनुभव से शुद्ध आत्मा अनुभव में नहीं आता, इसलिये वह सब अभूतार्थ है! ज्ञानी स्वयं को सहज एक ज्ञायकभावरूप से ही अनुभव करता है। ऐसे अनुभव को ही शुद्धनय कहा है और उसे ही भूतार्थ कहा है; वह सम्यग्दर्शन है। ऐसे भूतार्थस्वभाव के अनुभव में समस्त जिनशासन का समावेश हो जाता है।

शुद्धनय द्वारा ही आत्मा कर्मकलंक से भिन्न शुद्ध अनुभव में आता है। जैसे पानी का स्वच्छ स्वभाव है, वह कादव के साथ मिलने पर मलिन ही अनुभव में आता है। लोक में बहुत से जीव (सब नहीं परंतु बहुत से) तो पानी को मलिन ही देखते-अनुभवते हैं, उसके शुद्ध स्वभाव-स्वच्छ स्वभाव का अनुभव नहीं करते, परंतु कितने ही कतकफल (निर्मली) नाम की औषधि डालकर कीचड़ से भिन्न स्वच्छ जल का अनुभव करते हैं। उसीप्रकार आत्मा स्वच्छ चैतन्यसमुद्र है; समुद्र मलिन नहीं होता। आत्मा के शुद्ध ज्ञायकस्वभाव का अनुभव नहीं करनेवाले बहुत से जीव तो व्यवहार में ही विमोहित होकर रागादि के साथ मिश्रित अशुद्ध आत्मा को ही अनुभवते हैं। अकेला पानी मलिन नहीं होता, मलिनता तो कीचड़ की है। उसीप्रकार ज्ञायकभाव स्वयं मलिन नहीं है, मलिनता तो कर्मसंयोग से होनेवाले रागादि भावों

की है।—ऐसा विवेक (भेदज्ञान) शुद्धनय द्वारा ही होता है। ऐसा बोध अपने पुरुषार्थ द्वारा होता है। अशुद्ध दृष्टि में आत्मा का ज्ञायकभाव आच्छादित था, पर्याय में उसका प्रगट अनुभव नहीं था, परंतु शुद्धनय द्वारा भूतार्थस्वभाव को जानकर जहाँ अंतर्दृष्टि की, वहाँ ज्ञायकभाव का प्रगट अनुभव हुआ, अर्थात् ज्ञायकस्वभाव प्रगट हुआ।

अरे, अनंत संसार में भ्रमण करनेवाले जीव को निगोदादि भव में तो भेदज्ञानरूप निर्मल औषधि की प्राप्ति का अवसर ही कहाँ है? इस मनुष्यभव में ऐसा अपूर्व भेदज्ञान का अवसर मिला है, इसलिये अपने में भेदज्ञान प्रगट करने की बात कही है। जगत के समस्त जीव ऐसे शुद्ध आत्मा को नहीं अनुभवते; बहुत से जीव तो व्यवहाररूप (अभूतार्थरूप), अशुद्धरूप ही आत्मा को अनुभवते हैं। और ऐसे अशुद्ध अनुभव का फल संसार ही है। शुद्धनय अनुसार आत्मा का शुद्ध स्वरूप जगत में कुछ विरले जीव ही जानते हैं, और ऐसे शुद्धस्वरूप का अनुभव करनेवाले जीव ही आत्मा के सच्चे स्वरूप को अनुभवते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि हैं। मात्र अशुद्धता का अनुभव करनेवाले (गुणभेद के विकल्प का अनुभव करनेवाले) जीव सम्यग्दृष्टि नहीं, वे आत्मा के सच्चे स्वरूप का अनुभव नहीं करते।

भूतार्थ ऐसा शुद्धस्वभाव त्रिकाल,
और अभूतार्थ ऐसा अशुद्ध भाव क्षणिक;

—यह दोनों एक साथ हैं; परंतु उनमें से वे मात्र अभूतार्थ भाव को ही अनुभवते हैं और शुद्धस्वभावभाव का अनुभव नहीं करते, वे व्यवहार में मूर्च्छित हैं-अज्ञानी हैं। और जो अशुद्धता से भिन्न ऐसे शुद्धस्वभाव का शुद्धनय के पुरुषार्थ द्वारा अंतरंग में अनुभव करते हैं, वे भूतार्थदर्शी—सत्यदर्शी—सम्यग्दृष्टि हैं।

अहो, सम्यग्दर्शन के लिये यह अपूर्व मंत्र है। संतों ने शुद्ध आत्मा के अनुभव की रीति बतलाकर मार्ग सुगम कर दिया है। जो इस बात को लक्ष में लेकर इसका श्रद्धान करेगा, वह जीव कृतकृत्य हो जायेगा।

प्रवचनसार..... जिनवाणी का प्रसाद

प्रवचनसार के प्रारंभिक मंगल-प्रवचन आप पिछले अंक में पढ़ चुके हैं, मानो पंच परमेष्ठी भगवंतों का ही पदार्पण हुआ हो—ऐसे उत्तम भाव भरे प्रवचन सोनगढ़ में हो रहे हैं। यहाँ उनका संक्षिप्त सार पाठकों के लिए दिया जा रहा है।

शुद्धोपयोग ही मोक्ष का कारण है, शुभोपयोग, वह मोक्ष का कारण नहीं है।

जो जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित है अर्थात् धर्मरूप से परिणमन करनेवाला है, मुनिदशा यथार्थरूप से अंगीकार की है, तथापि वह भी जब तक शुभपरिणामसहित परिणमन करता है, तब तक मोक्ष को साध नहीं सकता, इसलिए शुभपरिणाम, वह मोक्ष का साधक नहीं परंतु बाधक है। मोक्ष का साधक तो वीतराग चारित्र है, वीतरागी शुद्धोपयोग परिणाम द्वारा ही मोक्ष की साधना होती है। जब कि मुनि का शुभभाव मोक्ष का कारण नहीं होता, तो निचली दशा के शुभ की क्या बात? यहाँ तो स्पष्ट कहते हैं कि शुभराग तो चारित्र से विरुद्ध है। चारित्र, वह वीतरागभावरूप है, और राग उससे विरुद्ध जाति का है। वीतरागचारित्र मोक्ष का कारण है और शुभराग, वह बंध का कारण है; इसलिये शुद्धोपयोगरूप वीतरागचारित्र अंगीकार करनेयोग्य है और शुभराग, वह इष्टफल को रोकनेवाला होने से छोड़ने जैसा है। अहो, ऐसी चारित्रदशा प्रगट करे, उसकी तो क्या बात! उस चारित्रदशा की पहिचान करनेवाले जीव भी विरले हैं।

वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोगी जीव ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं; शुभोपयोगी जीव तो स्वर्गसुख के बंध को प्राप्त करते हैं—इसलिये वह तो मोक्ष से विररुद्ध कार्य हुआ, यहाँ तो मुनि के शुभ की बात है। मुनि तो उस शुभ को हेय ही मानता है, और शुद्धता को साध ही रहा है। अज्ञानी शुभ को हेय नहीं मानता, उसको मोक्ष के कारणरूप समझकर उपादेय मानता है, उसे

शुद्धता का तो अंश भी नहीं। राग रहित मोक्षमार्ग को वह नहीं जानता। मुनि को जो शुभोपयोग है, वह भी धर्म नहीं। मुनि स्वयं धर्मरूप से परिणमन करनेवाला है परंतु वह तो जितना वीतरागरूप हुआ, उतना ही धर्म है; अल्प शुभराग रहे, वह भी धर्म नहीं; धर्मपरिणति और रागपरिणति दोनों की जाति ही भिन्न है। प्रथम ही ऐसी श्रद्धा और पहिचान के बिना धर्म का प्रारंभ भी नहीं होता। धर्मी को आंशिक शुद्धपरिणति और आंशिक शुभराग दोनों साथ में भले हों परंतु दोनों धर्मरूप नहीं हो जाते, धर्म तो शुद्धता ही है; राग, वह धर्म नहीं।

अरे, शुभराग का फल तो दुःख है; कदाचित् उसे स्वर्ग-सुख कहा भी हो, परंतु उसमें आकुलतारूप दाह-दुःख है; आत्मा का शुद्धोपयोग ही सुखरूप है, इसलिये वही उपादेय है; शुभोपयोग तो अत्यंत हेय ही है। ऐसा निर्णय करके आचार्यदेव ने अपने में शुद्धोपयोग परिणति प्रगट की है अर्थात् साक्षात् मोक्षमार्ग अंगीकार किया है। ऐसा ही मोक्षमार्ग है और दूसरा मोक्षमार्ग नहीं है; इसप्रकार हे जीवो! तुम मानो।

अब कहते हैं कि शुद्धोपयोगरूप जो मोक्षमार्ग है, वह आत्मा के परिणाम ही हैं, आत्मा ही उस शुद्धोपयोगरूप परिणमन करता है।

❀ वस्तु स्वयं परिणामस्वभावी ❀

प्रत्येक वस्तु परिणामस्वभाववान है; परिणाम, वह वस्तु का स्वभाव ही है; इसलिये किसी अन्य के कारण परिणाम होते हैं, ऐसा नहीं है। स्वभाव से ही वस्तु स्वयं परिणाममय है। यह सिद्धांत समस्त पदार्थों में लागू होता है।

वस्तु हो और उसका कोई परिणाम न हो, ऐसा नहीं बनता। परिणाम न हो तो वस्तु ही न हो। उष्ण परिणाम न हो तो अग्नि ही न हो, ज्ञानपरिणाम न हो तो आत्मा ही न हो, स्पर्शपरिणाम न हो तो पुद्गल ही न हो। वस्तु और परिणाम भिन्न नहीं हैं; इसलिये वस्तु सदा अपने परिणाम सहित ही होती है, ऐसा उसका स्वभाव है। इसलिये किसी निमित्त ने उस परिणाम को किया ऐसा नहीं है।

जैसे सिद्ध जीव अपनी सिद्धपर्यायरूप शुद्धपरिणामरहित नहीं होते; मोक्षदशा में शुद्ध जीव को भी केवलज्ञान-सुखादि शुद्धपरिणामों का अस्तित्व है। परिणाम, वह कोई उपाधि नहीं वह तो वस्तु का स्वभाव है। कोई कहे कि मोक्ष में भी जीव के परिणाम होते हैं ? तो कहते

हैं कि हाँ—भाई! मोक्ष में भी जीव के परिणाम होते हैं, अशुद्ध परिणाम नहीं होते, शुद्ध परिणाम ही होते हैं—'सादि अनंत अनंत समाधि सुख में, अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो' ऐसे परिणाम मुक्त जीव को भी होते हैं।

यहाँ तो ऐसा कहा है कि—जगत के समस्त पदार्थों को अपने-अपने परिणाम होते हैं। कोई भी पदार्थ परिणामरहित नहीं होता और कोई भी परिणाम पदार्थरहित नहीं होता। जैसे-सिद्ध परिणाम हैं, वे मुक्त-जीवरूप पदार्थ बिना नहीं होते। मात्र क्षणभंगुर परिणाम को ही माने और वस्तु को नहीं माने तो उसे भी परिणामस्वभावी वस्तु का पता नहीं। वस्तु बिना परिणाम किसके? द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप ऐसे निजस्वभाव में वस्तु विद्यमान है, वही सत् है। ऐसे सत्स्वभाव में रही हुई वस्तु को पहिचानने पर वीतरागता होती है। ज्ञान और ज्ञेयों के यथार्थ स्वभाव का जिसने निर्णय किया है, उसी को प्रशमदशारूप चारित्र प्रगट होता है। जिसका ज्ञान ही अस्थिर हो, उसे चारित्रदशा की स्थिरता कैसी? ज्ञान अधिकार के अंत में कहेंगे कि आत्मा के ज्ञानस्वभाव का यथार्थ निश्चय करके उसकी सिद्धि के लिये प्रशम के लक्ष से, ज्ञेय तत्त्व को जानने का इच्छुक जीव सर्व पदार्थों को द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जानता है, जिससे मोहांकुर की बिल्कुल उत्पत्ति नहीं होती। देखो, द्रव्य-गुण-पर्यायस्वभाव में स्थित वस्तु का ज्ञान करने से मोह का नाश होता है। स्वयं की पर्याय, वह अपने स्वभाव से हुई है, अन्य से नहीं हुई—ऐसा निर्णय करने पर दृष्टि अंतरस्वभावोन्मुख होती है, पर के साथ की एकत्वबुद्धि छूट जाती है और मोह नष्ट हो जाता है। इसके पश्चात् द्रव्य-गुण-पर्याय का विशेष ज्ञान, वह भी वीतरागता का कारण है। पर्याय वह वस्तु का स्वभाव है; उसे स्वतंत्र न जानने से तथा पर के कारण पर्याय होती है, ऐसा मानने से तो मोह कभी नहीं छूटेगा; पर से अपनी पर्याय माननेवाले को तो पर के साथ एकत्वबुद्धि होने से राग-द्वेष होते ही रहेंगे। इसलिये परिणामस्वभावी वस्तु का श्रद्धान किये बिना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र नहीं होता। सर्वज्ञदेव ने जो द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तुस्वभाव बतलाया है, उसका यथर्थ कथन भी जैनशासन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं यथार्थ नहीं होता।

वस्तु के परिणाम परवस्तु के आश्रय से नहीं होते; परंतु वस्तु स्वयं परिणामस्वभावी है। परिणमन करनेवाला पदार्थ ही अपने परिणामरूप से परिणमता है। एक क्षण भी ऐसा नहीं होता कि पदार्थ परिणाम से रहित एकांत कूटस्थ हो। तथा परिणाम त्रैकालिक वस्तु के आश्रय से होते

हैं। ध्रुव को स्वीकार न करे और मात्र क्षणिकता को ही माने तो भी उसे यथार्थ वस्तुस्वरूप का पता नहीं है। मोक्ष में सिद्धपर्याय है परंतु आत्मवस्तु नहीं है, ऐसा नहीं हो सकता। अथवा मोक्ष में आत्मा है परंतु उसे ज्ञानादि कोई पर्याय नहीं है, ऐसा भी नहीं होता। द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तु है, वही सत् है। उसमें से एक भी अंश को निकाल देने से वस्तु ही सत् नहीं रहती।

इसप्रकार वस्तुस्वरूप का निर्णय करने पर जीव अपने परिणाम को अपनी वस्तु के आश्रित जानकर स्वाश्रय से परिणमित होता है, इसलिये स्वभाव के आश्रय से साधकभावरूप निर्मल पर्याय बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

वस्तु परिणामस्वभावी है; प्रतिसमय परिणमन होना, वह प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। परिणाम, वह उपाधि नहीं परंतु वस्तु का स्वरूप है। अशुद्धता, वह उपाधि है, परंतु निर्मल परिणाम, वह तो स्वभाव है, उसे भिन्न नहीं किया जा सकता।

यदि वस्तु परिणाम स्वभाव न होती तो आत्मा संसार से छूटकर कभी मोक्षदशारूप परिणमन नहीं कर पाता। जो अपना कल्याण करना चाहते हैं, वे एक समय में कल्याण करना चाहते हैं, और उस कल्याणरूप से सदा रहें, ऐसी इच्छा है; इसलिये एक समय में अकल्याण से कल्याणरूप परिणमन कर जाने पर भी द्रव्यरूप से सदा रहे, ऐसी आत्मा की शक्ति है। आत्मा एक समय में मिथ्यात्व से सम्यक्त्वरूप परिणमन कर जाता है, और वह परिणाम किसी अन्य के आश्रय से नहीं होता परंतु परिणामी ऐसे अपने स्वभाव के आश्रय से ही परिणाम होते हैं। जड़ के परिणाम जड़ के आश्रय से होते हैं, चेतन के परिणाम चेतन के आश्रय से होते हैं। चेतन के परिणाम जड़ के आश्रय से या जड़ के परिणाम चेतन के आश्रय से नहीं होते। उपादान के परिणाम उपादान के आश्रय से होते हैं, परवस्तुरूप निमित्त के आश्रय से उपादान के परिणाम नहीं होते। अहा, कैसा स्वतंत्र वस्तुस्वभाव है! प्रत्येक समय का परिणाम स्वतंत्र स्वाधीन है। परंतु विपरीत दृष्टि में अज्ञानी को स्वाधीनता दिखाई नहीं पड़ती, और वह अपने को सदा पराधीन मानता है, इसलिये पराश्रयबुद्धि से अशुद्धतारूप परिणमन करता है; वह संसार है।

स्वाश्रित परिणमन द्वारा एक समय में उस संसारदशा का नाश तथा सिद्धदशा की उत्पत्ति हो सकती है। संसारदशा में भले ही अनंत काल व्यतीत हुआ, परंतु मोक्षदशा को साधने में कहीं अनंत काल नहीं लगता। मोक्षदशा प्रगट करने के लिये अनंत काल तक पुरुषार्थ नहीं

करना पड़ता, परंतु स्वभाव के आश्रय से अल्प काल के पुरुषार्थ द्वारा ही मोक्ष की साधना हो सकती है। किसी भी जीव को साधकदशा में अनंत काल नहीं लगता; साधक असंख्य समय के काल में ही मोक्ष को साध लेता है। स्वभाव का आश्रय लेने के पश्चात् अधिक समय संसार में रहना पड़े—ऐसा नहीं हो सकता, स्वभाव का आश्रय लेने पर अल्प समय में ही मोक्षदशा प्रगट हो जाती है। ऐसा जानकर हे जीव! स्वयं अपने स्वभाव का आश्रय ले, उसमें अंतर्मुख होकर परिणमन करने पर अपने परिणमनस्वभाव से तू स्वयमेव सिद्धदशारूप परिणमित हो जायेगा।

मुमुक्षु की अंतर विचारणा

हे मुमुक्षु! तुझे निरंतर ऐसे विचार करना चाहिये तथा अंतर में ऐसी लगन होना चाहिये कि अपने स्वरूप की पहिचान-अनुभव किये बिना इस संसार से मेरा छुटकारा नहीं हो सकता। यदि ऐसा सुअवसर प्राप्त होने पर भी अपने स्वरूप का अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं किया तो तेरे भवभ्रमण का अंत नहीं आ सकता।

अरे जीव! वस्तु स्वभाव की प्रतीति के बिना तू कहाँ जायेगा? तुझे सुख-शांति कहाँ मिलेगी? बाह्य में कहीं भी सुख-शांति नहीं है। तू चाहे जहाँ जाये परंतु रहनेवाला तो अपने अस्तित्व में ही है... परवस्तु उसके अपने अस्तित्व में रहनेवाली है; इसलिये पर में तेरा सुख नहीं है; सुख तो तुझमें ही है, इसलिये अपने स्वरूप को जान। अपने को जाने बिना तू दुःखी हो रहा है। वह दुःख दूर करने का एक ही उपाय ज्ञानियों ने बतलाया है और वह है—'आत्मा की पहिचान!' .....ऐसी अंतर-विचारणा द्वारा मुमुक्षु जीव सम्यग्दर्शन प्राप्ति की लगन लगाकर उसी का उद्यम करता है।

अनुभव रत्नचिंतामणि

[बांभणवाडा (गुजरात) में पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

आचार्यदेव शुद्धदृष्टि द्वारा सभी संसारी जीवों को भगवान (-ज्ञानवान) कहकर उपदेश देते हैं कि भाई! तू तो सदा चैतन्यस्वरूप है, ज्ञान-आनंदादि अनंत गुणों का पुंज भगवान आत्मा स्वसत्ता में स्वतंत्र विराजमान है; अपने गुणों को और उनके अपार सामर्थ्य को भूलकर अज्ञान और राग-द्वेष कर रहा है, वह तेरा ही दोष है। देहादि तो परद्रव्य हैं, वे तेरे नहीं हैं, भिन्न वस्तु हैं। अपने में राग-द्वेष-मोहरूप मल है, वह आत्मा की प्रतीति और उसमें जागृति द्वारा छूट जाता है, क्योंकि वह अपने पुरुषार्थ की मर्यादा में है, किंतु परवस्तु अपने आधीन नहीं है, परवस्तु से अपने को सुखी-दुःखी मानना, वह दुःखदाता भ्रम है।

आत्मा है, है, है और नित्य है। नित्य होने से उसकी शक्तिरूप गुण भी नित्य हैं इसलिये प्रत्येक आत्मा अपनी भावरूपी स्वपरिणति का ही कर्ता है, भोक्ता भी निज भावों का है। शक्तिरूप पूर्ण ज्ञान-पूर्णसुख का प्रगट होना मोक्ष है, मोक्ष का उपाय भी अपने में अपने आधीन है।

* आत्मा इस देह से भिन्न ज्ञायकतत्त्व है।
* देह का नाश होने पर आत्मा का नाश कभी नहीं होता।
* आत्मा निजकार्य का कर्ता है, पर का कर्ता नहीं है।
* स्वयं जो शुभ या अशुभ कर्म (कार्य) करता है, उनके फल को वह स्वयं भोगता है।
* शुभाशुभ कर्म का नाश करके पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षदशा को प्राप्त करता है। और मोक्ष का उपाय सत्य धर्म (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) है।

सत्यधर्म अर्थात् अपने पूर्ण स्वरूप की पहिचान, श्रद्धा, अनुभव वह धर्म है, और वह मोक्ष का उपाय है। अतः मोक्षार्थी जीवों को अंतर में इसप्रकार चैतन्य राजा की पहिचान करके उसका स्वसंवेदन करना चाहिये। पर से भिन्न आत्मा का स्वसंवेदन अर्थात् आत्मा का अनुभव अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है। अनुभव की अपार महिमा है—

अनुभव रत्न चिन्तामणि, अनुभव है रसकूप,
अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्षस्वरूप।
अनुभवी को एकाकी आनंद में रहना,
भजना निजब्रह्म अन्य कुछ भी न करना।

साधक का निश्चय-व्यवहार

ज्ञानी के प्रत्येक पर्याय में सहज ही ऐसा सामर्थ्य होता है कि वह पर्याय अपने को और अखंड स्वभाव को जानती है। साधक की पर्याय निश्चय-व्यवहार दोनों के ज्ञान सहित परिणमन करती है। वह निश्चयस्वभाव का आश्रय करता है, और पर्याय के भेदरूप व्यवहार को मात्र जानता है – परंतु उसके आश्रय में रुकता नहीं, इसलिये उस व्यवहार को 'जाना हुआ' (आदर किया हुआ नहीं, परंतु जाना हुआ) प्रयोजनवान कहा, और भूतार्थस्वभाव परम सत्य प्रयोजनभूत आश्रय करने योग्य है। उसी के आश्रय से मोक्षमार्ग सिद्ध होता है। उसका आश्रय किया, तभी तो साधकपर्याय प्रगट हुई, और तभी व्यवहार का भी ज्ञान हुआ।—इसप्रकार दो नयों की संधि है। परंतु व्यवहार के विकल्प के आश्रय से कल्याण मान ले तो उसे निश्चय या व्यवहार एक का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वह तो व्यवहार का पक्ष छोड़कर भूतार्थस्वभाव की ओर दृष्टि ही नहीं करता। उसे तो व्यवहारविमूढ़ कहा है। इसलिये अभूतार्थ व्यवहारभाव और भूतार्थ परमार्थभाव—इन दोनों को जानकर भूतार्थस्वभाव का आश्रय करना, उस ओर उन्मुख होना वही सम्यग्दर्शनादि की रीति है। उसमें सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें प्रगट हो जाती हैं। वह साधक का सच्चा व्यवहार है... वही तीर्थ अर्थात् तिरने का उपाय अथवा मोक्षमार्ग है, उसका फल मोक्ष है। *(समयसार, गाथा १२ के प्रवचन से)*

सम्यग्दृष्टि को रागादि विकारभावों से भिन्न आत्मा का

अनुभव होता है

[समयसार कलश ४४ पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

यह समयसार का ४४वाँ कलश है। इसमें कहते हैं कि—आत्मा अनादिकाल से जीव-अजीव की एकत्वबुद्धि के कारण मिथ्या संस्काररूप हो रहा है। उसमें पुद्गल-अचेतन धारा संतानरूप होकर अनादिकाल से नाच रहा है। पुण्य-पापरूप जो परिणमन हो रहा है, उस रूप मैं हुआ हूँ, ऐसी भ्रमणा हुई है। आत्मा तो शुद्ध वस्तु है, वह विकाररूप नहीं है। पर में एकत्वबुद्धि का जितना संस्कार है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है।

भावार्थ यह है कि—चेतन द्रव्य और अचेतन द्रव्य अनादिकालीन हैं। आत्मा आत्मारूप है और जड़ जड़रूप है। आत्मा विकाररूप नहीं हुआ है और विकार आत्मारूप नहीं हुआ है, परस्पर दोनों भिन्न हैं। ऐसा अनुभव प्रगटरूप सुलभ है; तथापि जिन्हें एकत्व-संस्काररूप अनुभव है, वह आश्चर्य है!

भगवान सच्चिदानंद प्रभु शाश्वत वस्तु कभी विकाररूप नहीं हुआ है और विकार कभी आत्मारूप नहीं हुआ है, तथापि एकत्वसंस्काररूप अनुभव करना, वह आश्चर्य है। लोग कहते हैं कि आत्मा का अनुभव करना दुर्लभ है; परंतु जो है, उसका अनुभव कठिन कैसे होगा! विकार परिणामों के साथ एकत्वसंस्काररूप मिथ्या भ्रम है, वह क्यों है? तो कहते हैं कि एक चेतनद्रव्य है और एक अचेतनद्रव्य है—इसप्रकार दोनों में महान अंतर होने पर भी उन्हें एक मानता है, यह मिथ्या भ्रम है।

जिसप्रकार धतूरा पी लेनेवाले की दृष्टि विचलित हो जाती है। वह सफेद शंख को पीला देखता है। उसीप्रकार अशुद्ध दृष्टि के कारण विकार और आत्मा, शरीर और आत्मा का एकरूप अनुभव करता है! तथापि वस्तु तो जैसी है, वैसी है। शंख तो पीला नहीं हुआ है, फिर भी विचलित दृष्टि वाला उसे पीला देखता है। विकार और आत्मा का एकत्वरूप अनुभव करने से वह कभी एक नहीं होते।

यहाँ कहते हैं कि जिसे धर्म करना है, उसे विकाररहित शुद्ध आत्मा की दृष्टि करना होगी और जीव-अजीव की भिन्नता को समझना होगा।

स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादि तो उनके अपने कारण आये हैं, रहे हैं; तेरी पर्याय के कारण उनमें कुछ नहीं होता, तथापि अज्ञान के कारण अपना मानकर दु:खी हो रहा है।

आत्मा एक समय की क्षणिक पर्याय में अशुद्धरूप परिणमित हुआ है परंतु स्वभाव में अशुद्ध नहीं है। अनादिकालीन विभाव परिणाम अविवेकता—अशुद्धता है और भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप पवित्र वस्तु अंतर में विराजमान है, उसे देखे तो वह भिन्न भासित होगा और सुख की प्राप्ति होगी। भाई, यह केवलीप्रणीत धर्म है और यही जीव को शरणभूत है। अन्य कोई शरण नहीं है।

भाई, तेरा अविवेक नाटक तो बड़ा है! भगवान शुद्ध आत्मा और परवस्तुओं को एक मानना, यह अनादि से चला आ रहा बड़ा अविवेक नाटक है। भव को छोड़ते समय भव के नवीन संस्कार लेकर जाना, यह महान अविवेक है। भगवान आत्मा और पुण्य-पाप आदि को एक मानना महान अविवेक है। राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ आदि अनादि बंधपर्याय से हुए विभावपरिणाम हैं, उनसे रहित तू शुद्ध चिद्रूप चैतन्य प्रभु है। तेरे समस्त गुण कहीं अशुद्ध नहीं हो गये हैं। आत्मा शुद्ध चैतन्य धातु है, उसने अपने शुद्ध गुण-पर्यायों को धारण कर रखा है और वही तेरा सर्वस्व है।

जिसप्रकार कीचड़ भरा पानी मैला है, परंतु कीचड़ से रहित पानी शुद्ध है, उसीप्रकार पुण्य-पाप, दया-दानादि के भाव कीचड़-मलिनता है और उससे रहित जो कुछ है, वह चैतन्यधातु मात्र शुद्ध वस्तु है—ऐसे रागादि भावों की मलिनता रहित आत्मा शुद्ध आत्मा है और उसका अनुभव सम्यग्दृष्टि को होता है।

आत्मार्थ की तत्परता

जीव जब तक प्रमाद में फँसा रहता है, तब तक आत्महित के प्रयत्न में आगे नहीं बढ़ सकता। ज्ञानी सत्पुरुष उसे प्रेरणा देते हैं कि संसार की उलझनों में न फँसकर उद्यमपूर्वक अपने आत्मकार्य को साधने में तत्पर हो। क्योंकि उल्लसित वीर्यवान जीव ही आत्मा को साध सकता है।

हे जीव! जिन्हें तेरे आत्मार्थ के साथ संबंध नहीं है, ऐसी छोटी-छोटी बातों में तू रुक जायेगा तो अपने महान आत्म-प्रयोजन को कब साधेगा? जगत में कोई वस्तु अनुकूल या प्रतिकूल नहीं है; मान-अपमान, निंदा-प्रशंसा, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, रोग-निरोग तो आते-जाते ही रहेंगे। यदि ऐसी क्षुद्र बातों में ही तू आत्मा को रोक रखेगा तो आत्मार्थ के महान कार्य को कब साधेगा? बाह्य संयोगों के साथ आत्मार्थ का कोई संबंध नहीं है—ऐसा निर्णय करके जिसप्रकार आत्मार्थ की सिद्धि हो, ऐसा प्रयत्न कर! आत्मार्थ में बाधक परिणामों को उग्र प्रयत्न द्वारा छोड़। विविध प्रकार के परिणामोंवाले जीव भी जगत् में सदा रहेंगे; अतः उनका विचार छोड़... और आत्मार्थ की साधना में ही उग्रता से प्रवर्तन कर!

कुछ भी हो, मुझे तो अपना आत्मार्थ करना है, वही मेरा कार्य है... इसप्रकार अति दृढ़ निश्चयवंत हो। अपनी आत्मार्थिता निभाने के लिये जो कुछ सहन करना पड़ेगा, समभाव से सहन करूँगा... परीषह सहने के लिये तैयार हूँ, किंतु आत्मार्थ से किसी प्रकार नहीं डिगूँगा, अर्थात् उसमें जरा भी शिथिल नहीं होऊँगा। उत्साह जागृत हुआ है, उसे मैं कभी भंग नहीं होने दूँगा।—अपनी सर्व शक्ति को, अपने समस्त ज्ञान-वैराग्य को और श्रद्धा, भक्ति, उत्साह को अपने आत्मार्थ में लगाकर अवश्य उसकी साधना करूँगा।—इसप्रकार दृढ़ परिणाम के द्वारा हे जीव! आत्मार्थ की सिद्धि के लिये निरंतर तत्पर हो! उसके लिये यदि सच्ची तत्परता है तो जगत में किसी की शक्ति नहीं है जो उसमें बाधा डाल सके। जहाँ आत्मार्थ की सच्ची तत्परता है, वहाँ सारा जगत उसे आत्मार्थ की प्राप्ति में अनुकूल हो जाता है और वह जीव अवश्य आत्मार्थ को प्राप्त करता है। अतः हे जीव! जगत में दूसरा सब भूलकर तू अपने आत्मार्थ में तत्पर हो!

विविध समाचार

सोनगढ़ (सुवर्णपुरी) : परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख-शांति में विराजमान हैं। समयसारजी तथा प्रवचनसारजी शास्त्र पर विशेष स्पष्टता सहित वीतरागी विज्ञानमय प्रवचन हो रहे हैं, श्रोतागण बड़ी संख्या में भारी उत्साह सहित लाभ ले रहे हैं। श्री समयसारजी की ३१-३२-३३ गाथाओं पर अभूतपूर्व प्रवचन हो चुके हैं। श्री प्रवचनसार की ९७वीं गाथा पर प्रवचन हो रहे हैं।

पूज्य स्वामीजी का विहार फाल्गुन शुक्ला ३ को होने की संभावना है। सोनगढ़ से सावरकुंडला, अहमदाबाद होकर फाल्गुन शुक्ला ११ के दिन स्वामीजी रणासण (गुजरात—जिला साबरकांठा) पहुँचेंगे, जहाँ श्री जिनेन्द्र पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का विशाल आयोजन हो रहा है। चैत्र कृष्णा २ प्रतिष्ठा-दिवस है। विस्तृत कार्यक्रम यथासमय दिया जायेगा।

गुजरात एवं सौराष्ट्र के अनेक नगरों में विहार करते हुए पूज्य स्वामीजी चैत्र कृष्णा १४ को राजकोट पधारेंगे और वहाँ १३ दिन ठहरेंगे। पश्चात् वैशाख कृष्णा २-३-४ पालेज, तथा ५-६ सूरत रहकर बीलीमोरा, थना एवं घाटकोपर होते हुए वैशाख कृष्णा १२ रविवार तारीख १३-४-६९ को बम्बई नगरी में पधारेंगे जहाँ उनके भव्य स्वागत की तैयारियाँ जोरशोर से चल रही हैं। बम्बई मुमुक्षु मंडल ने पूज्य स्वामीजी का ८०वाँ जन्म-दिवस धामधूम से मनाने का निर्णय किया है। तत्पश्चात् श्री जिनेन्द्र पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव भी बड़ी ही धामधूम से मनाया जायेगा।

* * *

टेप-रिकॉर्डिंग द्वारा धर्मप्रचार एवं प्रभावना

अनेक नगरों से आमंत्रण मिलने पर श्री ब्रह्मचारी रमेशचंद्रजी ने करीब चार महीने से पूज्य श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों की टेप-रीलें लिये हुए मध्यप्रदेश में बीना, गुना, अशोकनगर, कुंभराज, राघौगढ़, आरौन, खुरई, खडेरी, करेली आदि २० नगरों का भ्रमण

किया है। जहाँ-जहाँ वे गये, वहाँ के समाज ने बड़ी रुचिपूर्वक उनके कार्यक्रमों में भाग लिया। वहाँ से आगरा (उत्तरप्रदेश) गये और ८ दिन ठहरे। अब तारीख १२-१२-६८ को एत्मादपुर पहुँच रहे हैं। ब्रह्मचारी रमेशचंद्रजी पूज्य स्वामीजी के आध्यात्मिक प्रवचनों के टेप-रिकार्ड सुनाने के उपरांत शास्त्रसभा, शंका-समाधान तथा जैनधर्म-शिक्षण का भी कार्यक्रम रखते हैं। जहाँ के समाज उन्हें बुलाना चाहते हों, वे निम्न पते पर उन्हें लिखें तथा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ को भी सूचित करें। उनका पता है—

श्री ब्रह्मचारी रमेशचंद्रजी जैन
द्वारा श्री रामस्वरूपजी जैन
एत्मादपुर (आगरा-उत्तरप्रदेश)

* * *

ब्रह्मचारी श्री पंडित दीपचंदजी जैन गोरे महाराष्ट्र में जगह-जगह से आमंत्रण मिलने पर लगभग चार महीने से टेप-रिकार्डिंग तथा शास्त्रसभा, जैनधर्म-शिक्षण, स्वामीजी की तीर्थयात्रा एवं पंच कल्याणक की फिल्मों के प्रदर्शन द्वारा प्रचार कर रहे हैं। आपने नातेपुते, बालचंदनगर, बारामती, फलटन, अकलूज, बडगाँव, दहींगाँव, पंढरपुर, बार्शी, करंकब तथा दूसरी बार बारामती आदि नगरों में भ्रमण करके समाज में अच्छी धर्म-जागृति पैदा की है। जहाँ भी जाते हैं, वहाँ की समाज के लोग बड़े उत्साहपूर्वक कार्यक्रमों में भाग लेते हैं। दोनों ब्रह्मचारी पंडित यह कार्य बम्बई निवासी श्री नवनीतलाल चुनीलाल जवेरी (अध्यक्ष श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़) की ओर से कर रहे हैं। जो समाज उन्हें बुलाना चाहें वे श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ के पते पर लिखें।

* * *

भावनगर तथा घाटकोपर (बम्बई) में जिनमंदिरों का भव्य शिलान्यास

भावनगर (सौराष्ट्र) : तारीख २५-११-६८ को परमोपकारी पूज्य कानजीस्वामी के सानिध्य में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल भावनगर द्वारा माणेकवाडी में भव्य जिनालय हेतु सेठ हीरालालजी काला के शुभहस्त से प्रातःकाल खातमुहूर्त और पोरबंदर निवासी सेठ नेमीदास खुशालदास के शुभहस्त से दोपहर में शिलान्यास विधि संपन्न हुई। कार्यक्रम में अनेक शहरों के तथा सोनगढ़ के सभी साधर्मी भाई-बहिन पधारे थे। पूज्य स्वामीजी के स्वागत के पश्चात्

टाउनहॉल में प्रातःकाल पूज्य स्वामीजी का प्रवचन हुआ। तत्पश्चात् श्री जिनेन्द्र-रथयात्रा का भव्य जुलूस निकाला गया। दोपहर में जिनाभिषेक, पूजन, यंत्रजी की पूजा और शिलान्यास आदि विधि हुई, दान में करीब एक लाख रुपये आये। अच्छी धर्म प्रभावना हुई। भावनगर मुमुक्षु मंडल को धन्यवाद!

घाटकोपर (बम्बई) : मगसिर शुक्ला १२ रविवार, तारीख ०१-१२-६८ को भगवान श्री नेमिनाथ दिगम्बर जिनमन्दिर निर्माण हेतु पूजनादि विधि तथा शिलान्यास की मंगलविध्धि पोरबंदर निवासी कोठारी भूरालाल भूदरजी के सुपुत्र श्री मनसुखलाल के शुभहस्त से हुई। इस अवसर पर श्री जिनेन्द्र भगवान की रथयात्रा श्री शांतिनाथ दिगम्बर जैन चैत्यालय, मधुकुंज नवरोज लेन से घाटकोपर निकलकर जिनमंदिर के प्लाट में आयी थी, (स्थल-प्लाट नं. २२७, ६० फुट का रास्ता, हिंगवाला लेन, श्री धनजी देवशी म्यु. स्कूल के पीछे, घाटकोपर-पूर्व)। बम्बई तथा उपनगरों के साधर्मी बन्धु बड़ी संख्या में एकत्र हुए थे। श्वेताम्बर भाई भी बड़े प्रेम से शामिल हुए थे, सोनगढ़ से श्री पंडित खीमचंदभाई पधारे थे। दोपहर में उनका प्रभावशाली प्रवचन घाटकोपर में हुआ था। करीब ७६ हजार का दान हुआ। शिलान्यास के समय अत्यधिक आनंद था। घाटकोपर मुमुक्षु मंडल तथा बम्बई दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल के प्रशस्त प्रयत्न एवं धर्मोत्साह के लिये धन्यवाद!

* * *

दुःख और शांति

कभी-कभी हर प्रकार से दुःखी लोग पूज्य गुरुदेव के पास आकर अपनी वेदना व्यक्त करते हैं। तब गुरुदेव कहते हैं कि—

भाई! संसार तो दुःखों से भरा हुआ है; उन दुःखों से छूटना हो तो इस शुद्ध आत्मा का अनुभव करना होगा। इसके सिवा लाखों उपाय व्यर्थ हैं।

यदि यह जीव अंतरोन्मुख होकर आत्मा की ओर देखे तो बाह्य में लाखों प्रतिकूलताओं के बीच समाधान और शांति मिल सकती है।

आत्मा को साधने की रीति

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा आत्मा की आराधना से ही सिद्धि होती है, इसके सिवा अन्य किसी प्रकार सिद्धि नहीं होती। अत: दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा आत्मा की उपासना करना, यह मोक्षार्थी जीव का प्रयोजन है। चैतन्य की प्राप्ति करना ही जिसका मंगल अभिप्राय है—ऐसा मोक्षार्थी जीव मुक्ति के लिये प्रथम तो ज्ञानस्वरूप आत्मा की पहचान करके उसकी श्रद्धा करता है कि यह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ, और उसका सेवन करने से ही पूर्ण सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी।—ऐसी नि:शंक श्रद्धा सहित उसमें लीनता होना चाहिये। जो शिष्य मोक्ष की भनक लेकर आया है, वह मंगल-अभिप्रायवान होकर सर्व प्रकार से प्रयत्न द्वारा आत्मा को जानता है, श्रद्धान करता है और पश्चात् उसमें लीन होने का उद्यम करता है। उसे मुक्ति की बात बैठ गई है। श्रवण-मनन-चिंतन में, शास्त्र के पठन में, सर्वत्र वह मुक्ति की ही शोध करता है। पहली बात यह है कि पर से पृथक् और स्व से एकत्व आत्मा को जाने, जहाँ वास्तविक ज्ञान किया वहाँ ''ऐसा आत्मा मैं ही हूँ''—ऐसी नि:शंक श्रद्धा भी होती है। इसप्रकार श्रद्धा-ज्ञान करनेवाले को राग का अभिप्राय नहीं है, बंधन से छूटने का ही अभिप्राय है।

जिसप्रकार धनार्थी पुरुष राजा को पहचान कर, श्रद्धा करके, बहुत उद्यम सहित विनय-भक्ति से, सर्व प्रकार सेवा करके राजा को प्रसन्न करता है; उसीप्रकार मोक्षार्थी जीव अंतर्मुख प्रयत्न द्वारा प्रथम तो आत्मा को जानता है, श्रद्धा करता है; ''ज्ञान द्वारा जो आत्मा की अनुभूति हुई वह अनुभूति ही मैं हूँ''—इसप्रकार आत्मज्ञानपूर्वक प्रतीति करता है, पश्चात् वह आत्मस्वरूप में ही लीन होकर आत्मा की साधना करता है।—आत्मा को साधने की यह रीति है।

वैराग्य-समाचार

कार्तिक शुक्ला १४, तारीख ३-११-६८ के दिन कलकत्ता में लाडनू (राजस्थान) निवासी सेठ श्री वच्छराजजी गंगवाल का स्वर्गवास हो गया। करीब १७ वर्ष पूर्व वे सोनगढ़ आये थे और तभी से पूज्य कानजीस्वामी के प्रति उन्हें अत्यंत भक्तिभाव जागृत हुआ था। पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सुनकर तथा सोनगढ़ के धार्मिक वातावरण से प्रभावित होकर उन्होंने करीब सवा लाख के खर्च से सोनगढ़ में गोगीदेवी श्राविका ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की और कई बार सोनगढ़ आकर पूज्य स्वामीजी की आध्यात्मिक वाणी का लाभ लिया। शिखरसम्मेद की यात्रा में भी वे स्वामीजी के साथ रहे। अंतिम समय तक वे पूज्य स्वामीजी तथा सोनगढ़ की याद करते रहे। देव-गुरु-धर्म की शरण लेकर उनका आत्मा आत्महित साधे ऐसी हार्दिक भावना...

पद

[रचयिता : श्री पंडित बनारसीदास]

(राग : मल्हार)

भौंदू भाई! समुझ शबद यह मेरा,
जो तू देखै इन आँखिनसौं तामैं कछू न तेरा ॥भौंदू० ॥१॥

ए आँखैं भ्रमहीसौं उपजीं, भ्रमही के रस पागी।
जहँ जहँ भ्रम तहँ तहँ इनको श्रम, तू इनही को रागी ॥भौंदू० ॥२॥

ए आँखैं दोउ रची चामकी, चाम हि चाम विलौवै।
ताकी ओट मोह निद्रा जुत, सुपनरूप तू जोवै ॥भौंदू० ॥३॥

इन आँखिनकौ कौन भरोसो, ए विनसै छिन माहीं।
है इनको पुद्गलसौं परचै, तू तो पुद्गल नाहीं ॥भौंदू० ॥४॥

पराधीन बल इन आँखिनको, बिनु प्रकाश न सूझै।
सो परकाश अगनि रवि शशिको, तू अपनों कर बूझै ॥भौंदू० ॥५॥

खुले पलक ए कछुइक देखहिं, मुंदे पलक नहिं सोऊ।
कबहुँ जांहिं होंहिं फिर कबहूँ, भ्रामक आँखैं दोऊ ॥भौंदू० ॥६॥

जंगमकाय पाय ए प्रगटैं, नहिं थावर के साथी।
तू तो इन्हैं मान अपने दृग, भयो भीम को हाथी ॥भौंदू० ॥७॥

तेरे दृग मुद्रित घट अंतर, अंधरूप तू डोलै।
कै तो सहज खुलै वे आँखैं, कै गुरु संगति खौलै ॥भौंदू० ॥८॥

विश्वतत्त्वों का सत्यस्वरूप सम्यक् अनेकांत द्वारा बतलाकर सच्चा समाधान, एवं अपूर्व शांति का उपाय दर्शानेवाले—

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

१	समयसार	(प्रेस में)
२	प्रवचनसार	४.००
३	समयसार कलश-टीका	२.७५
४	पंचास्तिकाय-संग्रह	३.५०
५	नियमसार	४.००
६	समयसार प्रवचन (भाग-४)	४.००
७	मुक्ति का मार्ग	०.५०
८	जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-१	०.७५
	'' '' '' भाग-२	१.००
	'' '' '' भाग-३	०.५०
९	चिद्विलास	१.५०
१०	जैन बालपोथी	०.२५
११	समयसार पद्यानुवाद	०.२५
१२	द्रव्यसंग्रह	०.८५
१३	छहढाला (सचित्र)	१.००
१४	अध्यात्म-संदेश	१.५०
१५	नियमसार (हरिगीत)	०.२५
१६	धर्म के संबंध में अनेक भूलें	बिना मूल्य
१७	अष्ट-प्रवचन	१.५०
१८	मोक्षमार्गप्रकाशक (ढूंढारी भाषा में) (सस्ती ग्रंथमाला दिल्ली)	२.२५
१९	टोडरमलजी स्मारिका	१.००
२०	अपूर्व अवसर-प्रवचन	१.५०
२१	बालबोध पाठमाला	०.५०
२२	वीतरागविज्ञान पाठमाला	०.६५
२३	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०.२५
२४	सन्मति संदेश (पूज्य श्री कानजीस्वामी विशेषांक)	०.५०
२५	मंगल तीर्थयात्रा (गुजराती-सचित्र)	६.००

प्राप्तिस्थान :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :

मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)